आधुनिक काव्य सदंर्भ और प्रकृति

डॉ० गंगाप्रसाद गुप्त

Purchased at Delhi
Feb. March – 1987
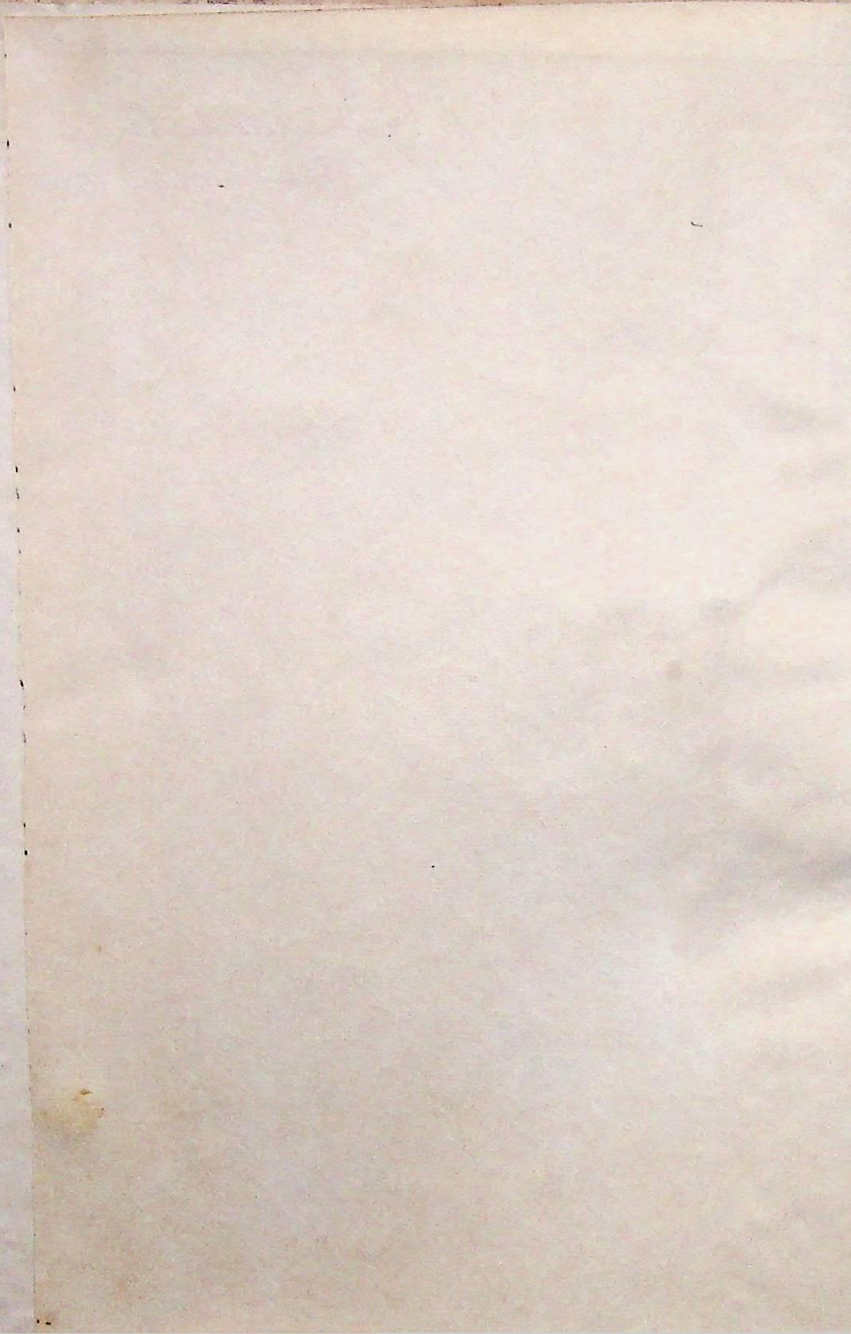
आधुनिक काव्य : संदर्भ और प्रकृति

डा० गंगाप्रसाद गुप्त
हिन्दी विभाग
शासकीय स्नातकोत्तर विज्ञान महाविद्यालय,
रायपुर

•

रचना प्रकाशन
४५ ए, खुल्दाबाद, इलाहाबाद-१

स्पष्टीकरण

प्रस्तुत पुस्तक पिछले पाँच वर्षों में मेरे द्वारा लिखे गये कतिपय चुने हुए लेखों का संकलित रूप है। आधुनिक-काव्य के बदलते सन्दर्भों में मेरी जो भी प्रतिक्रियाएँ और दृष्टियाँ रही हैं, वही मैंने समय-समय पर इन लेखों में व्यक्त की हैं। चूँकि संग्रहीत लेख वर्षों के अन्तराल में लिखे गये हैं, इसलिये हो सकता है कि विषयानुकूल उनमें एक तारतम्यता का कुछ अभाव हो। कुछ लेखों में किन्हीं सन्दर्भों में विचारों की पुनरावृत्ति भी सम्भव है। इतना निश्चित है कि सभी लेख आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों से ही सम्बन्धित हैं।

संकलित सभी लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं इनमें से अनेक बहुत दिनों तक चर्चित भी रहे हैं। मैं उन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, साथ ही उन पुस्तक-लेखकों का भी कृतज्ञ हूँ जिनकी सहायता इन लेखों के सन्दर्भ में किसी भी रूप में ली गई है।

सबसे अधिक आभारी हूँ आदरणीय श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' प्राचार्य, शासकीय महाकोशल कला महाविद्यालय, जबलपुर का, जिन्होंने कृपापूर्वक इस पुस्तक के लिए 'दो शब्द' लिखकर अपना आशीर्वाद प्रदान किया। उनका सहज स्नेह मुझे बहुत पहिले से ही मिलता रहा है।

श्री जितेन्द्र मल्होत्रा भी कम धन्यवाद के पात्र नहीं हैं, जिन्होंने बिना हिचक और व्यावसायिकता का लेखा-जोखा किये इसे समय पर प्रकाशित कर दिया।

पाठकों की प्रतिक्रियाएँ सादर आमन्त्रित हैं। उनसे मुझे प्रेरणा और दिशा मिलेगी।

—गंगाप्रसाद गुप्त

दो शब्द

'आधुनिक काव्य : संदर्भ और प्रकृति' के लेखक डा० गंगाप्रसाद गुप्त हिन्दी के सुपरिचित आलोचक हैं जिनके विवेचनात्मक लेख वर्षों से प्रकाशित हो रहे हैं। इन लेखों में एक सुलझे हुए नवीनतावादी अध्येता के रूप में वे सामने आते हैं। नये भावबोध और काव्य-व्यंजना के समर्थक होते हुए भी उनकी रुचि में एक पारदर्शी जागरूकता है जो उन्हें काव्य के सर्वकालीन शाश्वत प्रतिमानों अर्थात् सत्यान्वेषण और सौन्दर्यानुभूति के प्रति एकनिष्ठ रखती है। सत्य के स्वरूप परिवर्तनशील हो सकते हैं। सौंदर्य की परिभाषा और अवधारणा भी युगानुकूल बदल सकती है। पर काव्य के श्रेष्ठतम उपादानों के रूप में इनका मूल्य स्वयंसिद्ध है। डा० गुप्त उस आधुनिकता के समर्थक हैं जो जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखकर उसे अविभक्त मानती है, न कि, सारे पारम्परिक प्रवाहों और प्रभावों से कटी-कटी एक खंडित इकाई मात्र। डा० गुप्त का दृष्टिकोण एक प्रबुद्ध युवक का दृष्टिकोण है और उनकी भावप्रवणता कला के सौन्दर्य-दर्शन को लेकर चलने वाले भावक मन की आन्तरिक जीवन-दृष्टि है जो आत्मान्वेषण के लिये प्रस्तुत रहती है।

'आस्कर वाइल्ड' की उक्ति है कि कला (या काव्य) को सबसे अधिक घृणा करने का तरीका उसे बौद्धिकतापूर्वक पसन्द करना भी है। आधुनिकता को वाद के रूप में और विवाद के रूप में ग्रहण करने वाले नवोदित आलोचकों के लेखों को पढ़कर लगता है कि उनके मन में विरक्ति और विराग की (यदि घृणा की नहीं) यही प्रक्रिया चलती है जब वे बौद्धिक ढङ्ग से अबौद्धिक बातों को भी कहने और सहने वाली आधुनिक कविता को ऐसे-ऐसे पैने विश्लेषण के साथ समझाते हैं कि उसके अन्तरस्थ

के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। काव्य-शैली में परिवर्तन होता है। नये-नये काव्य-माध्यम की सृष्टि नयी-नयी प्रेरणाओं के उदय और समन्वय के लिये आवश्यक है, क्योंकि कवि के भोक्ता मन के अनुभवों की परिधि बहुमुख और विस्तृत होती जा रही है। पर अभिव्यक्ति का यह विघटन क्यों ? भावना का कौन सा घनत्व है—कौन सा सूक्ष्म से सूक्ष्म और जटिल से जटिल काव्य-चित्र है जो व्यापक मानवीय परिवेश या परिप्रेक्ष्य में चित्रित नहीं किया जा सकता ? सामान्य सामाजिक अर्थवत्ता काव्य को कब काठिन्य और दुरुहता के इस तीव्र व्यामोह से मुक्त कर सकेगी, जो आधुनिक काव्य पर अधिकतर छाया रहता है।

आधुनिक कविता एक प्रकार के 'कन्फूजन' से निकलने की चेष्टा करते-करते दूसरे प्रकार के कन्फ्यूजन में पड़ गई। प्रगतिशीलता के आंदोलन ने हिन्दी कवि को कुछ भ्रान्त-सा कर दिया था। जीवन के रचनात्मक सामाजिक तत्व की अपेक्षा उसकी दृष्टि जीवन के ध्वंसात्मक तत्व की ओर अधिक थी। मानसिक रूप से चेतनाशील होकर भी वह विषम वस्तु की आन्तरिक स्वरूपता को न समझ सका और अधिकतर बाह्य प्रभावों को गिनता-गिनता रह गया। विनाश की शक्तियों पर उसका जैसा प्रबल आग्रह रहा वैसा मानव की इस रचनात्मक शक्ति पर नहीं, जो न केवल सदा विनाश का सामना करती है वरन् ध्वंस के भीतर से निर्माण के नये-नये 'बिटामिनों' को निकालकर उन्हें लोक-मानस और जन-गण-मन में प्रविष्ट करती है। इस विभ्रान्ति से आधुनिक काव्य मुक्त हो सकता था, यदि निर्माण के प्रति खोई हुई आस्था और सृजन के पीड़ित क्षणों के जीवन्त विश्वास को वह खोज लेता। अपनी व्यक्तिगत आन्तरिक अनुभूतियों के पीछे ठहरी हुई जीवन की सच्ची संवेदना को बिना पहचाने वह बेकार बर्बाद किए गए जीवन और यौवन के स्मृति-चिन्हों के ढेर लगाता रहा और उलझनों और स्मृतियां की काली नदी में बह गया। अपने असामाजिक विकेन्द्रित व्यक्तित्व की धुरीहीनता को ही जीवन का

सबसे बड़ा सत्य उसमें समझा गया। व्यक्ति अपने स्वारोपित एकान्त में ठगा-ठगा सा पड़ा रह गया। उसने आधुनिक परिवेश और वातावरण को ध्वंसात्मक तत्त्व या अशिव मानकर उसके एकान्त में अपने अभावों के उत्तर ढूँढ़ने शुरू कर दिये। उसकी संवेदनायें सक्रिय तो हुईं—प्रगतिवादी कविता से अधिक—पर वे वर्तमान युग की सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के साथ न चल सकीं। एक भटके-भटके से अर्थबोध को पकड़ने की चेष्टा में वे अदृश्यमूलक और अधिकतर जड़ता के एक जैसे स्थिर अनुभव की संवाहक बनी रहीं। भक्तिकालीन कवियों या छायावादी कवियों से अधिक आत्म-निवेदन आधुनिक काव्य में व्याप्त हो गया और सामान्य सामाजिक महत्वों और अनुबन्धों से वह कटकर अलग हो गया। और समाज को जो शक्तियाँ विनाश से बचा सकती थीं उनकी सर्जना आधुनिक काव्यकारों द्वारा न हो सकी। प्रगतिवाद भविष्य की कल्पना में पलायन कर रहा था, पर आधुनिक काव्य बेस्वाद विकल और मोच खाये हुए जीवन को जीते जाने की, उसे पलायनशील मान्यता देने का चाह करता रहा।

पर प्रगतिशील काव्य की उपलब्धियों की ओर लेखक ने जो हल्की दृष्टि डाली है उससे मैं सहमत नहीं हूँ। सम्पूर्ण छायावादोत्तर काव्य को एक ही धारा और प्रवृत्ति के रूप में देखने की आवश्यकता मैं अनुभव करता हूँ। दशकों के लघुकालीन अल्पधर्मा विभाजनों में काव्य-सृष्टि को न बाँटकर उसे एक नैरन्तर्यपूर्ण सृजन-प्रक्रिया के रूप में देखकर व्यापक जीवन-धरातल पर उसका गम्भीर अनुशीलन होना चाहिये। डा० गुप्त यदि इस प्रकार के लघु-मानवी और लघुकाल-जीवी कालखंडों में अपने आलोच्य विषय को न विभाजित करें तो अपनी निजता की रक्षा के साथ-साथ वे साहित्य के व्यापक धर्म के प्रति अधिक उदार हो सकेंगे। तभी उन्हें विदित होगा कि प्रगतिशील काव्य ने हिन्दी कविता में किन क्रान्तिकारी जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा की है और कैसे प्राणवान समाजानुभवों का आकलन उसमें किया है। उस समाजधर्मी सोद्देश्यता और लोकसंग्रह

को साहित्य में फिर से लाने की भावना तो दूर रही उसकी ऐतिहासिक शक्ति और काव्यकला को भी जब आलोचनात्मक अनुशीलनों में अपर्याप्त उल्लेखमात्र करके खतिया दिया जाता है तो आधुनिकता का लघुआशयी स्वरूप ही सामने आता है।

मुझे विश्वास है डा० गुप्त के लेखों से पाठकों को आधुनिक काव्य के अध्ययन में सही दिशा प्राप्त होगी। आधुनिकता प्रत्येक काल में युगधर्म बन जाती है और सदैव नई प्रतिभाओं को आकर्षित करती है। उसकी वास्तविक प्रेरणा कहाँ है और कैसे वह काव्य-सृष्टि का रूप ग्रहण कर भावात्मक सौन्दर्य में परिणत हो जाती है यह समझना और समझाना आलोचक का कर्त्तव्य है। मैं मानता हूँ डा० गुप्त में यह क्षमता है और वे आधुनिकता को साहित्य-धर्मिता की अर्थवत्ता प्रदान करने में सफल होंगे।

जबलपुर
१७-१२-७०

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

अनुक्रम

१. बदलते सामाजिक परिवेश और साहित्य धर्म — १
२. साहित्य की प्रतिबद्धता — १०
३. समीक्षा का संकट — १७
४. भाषा की तलाश नहीं : विकास हो — २३
५. मूल्यों का बिखराव और पीढ़ी का दायित्व — २७
६. अधुनातन संदर्भ : सार्थक घोषणाएँ—निरर्थक विवशताएँ — ३३
७. युवा आक्रोश : संदर्भ और तत्व — ४४
८. नई-पुरानी का संघर्ष : दृष्टिकोण का अन्तर — ५९
९. ईमानदारी की तलाश — ६७
१०. साहित्यिक गैरईमानदारी और नये कवियों का आक्रोश — ७४
११. साठोत्तरी आस्थावान कवियों के ताजे स्वर — ८१
१२. छायावादोत्तर काव्य की पलायनवादी अकविता यात्रा — ८९
१३. साठोत्तरी पीढ़ी : 'अकविता' की गूँज — ९७
१४. ओढ़ी हुई स्थितियों का शब्दजाल : अकविता — ११६
१५. अकविता की मृत्यु : कारण और परीक्षण — १२६
१६. गीतों की बदलती दिशा : कुछ तथ्य — १३१
१७. नवगीत : ख़त के आइने में — १४४
१८. भविष्य की कविता — १५१

बदलते सामाजिक परिवेश और साहित्य-धर्म

•

•

संक्रमण काल अवरोधों, विरोधों और विसंगतियों का काल होता है। अस्पष्टता के बीच से ही स्पष्टता खोजने के प्रयत्नों में आक्रोश और टूटने पर निराशा की भावनाएँ स्थूल रूप में सामने आती हैं। आज का जीवन भी संक्रमणकालीन जीवन है जहाँ नए-पुराने की संधि-बेला पर नयी पीढ़ी आकर खड़ी हो गयी है। दोहरे थपेड़ों के बीच उसके दोहरे उलझाव भी हैं। एक को किनारे करके सपाट और सीधे रूप में वह आगे बढ़ नहीं सकती। आगे-पीछे की रस्साकशी में ही उसे रास्ता निकालना है। संक्रमण काल दोहरे रूपों का काल होता है।

हमारे देश में संक्रमण काल की स्थिति अन्य देशों की स्थितियों से भिन्न है। पाश्चात्य देशों के संक्रमण काल में पूर्वी देशों की फैशनपरस्ती या प्रभाव नहीं था और न ही इतनी लम्बी गुलामी थी। हमारे यहाँ पुराने और नए का संघर्ष भर नहीं है, आध्यात्मिकता और भौतिकता की अपनी टकराहट भर नहीं है, बल्कि पाश्चात्य आकर्षणों का मोह प्रभावशाली है। अतः हम अपने नए पुराने का संघर्ष झेल रहे हैं, पूर्वी

और पश्चिमी सभ्यताओं से टकरा रहे हैं, नई रोशनी की जिन्दगी को ओढ़कर पुराने ढंग की जिन्दगी को सोच रहे हैं। अथवा पुरानी नजर से नए को ग्रहण करने की चेष्टा है। अतएव हमारी संक्रमणशीलता एकदम भिन्न है। इस संक्रमणशीलता का जो सबसे भयावह पक्ष है—वह है चारित्रिक पतन। चारित्रिक पतन को ढाँकने के लिए हम अनेक प्रकार की नकाबें लगा लेते हैं। परिणामतः हमारे जीने के मानदंड और परिवेश दोहरे बन गए हैं। एक तो वह जो ऊपरी तिलक-मुद्रा और श्वेत परिधानों में दिखाई पड़ता है, और दूसरा जो वस्तुतः जीने के लिए विवश है।

यदि हम विचार करें तो पता चलेगा कि हम अपने देश में नयी पीढ़ी को कितनी उलझनों में डालकर भ्रमित करते हैं—(१) बचपन में हम दुनिया भर के सारे आदर्श उसे पिलाकर ईमानदार बनने का उपदेश देते हैं—क्योंकि वह राम और कृष्ण के देश में पैदा होने वाला भाग्यवान बालक है। उसे इस जन्म में पूर्ण ईमानदारी, सत्य, अहिंसा, त्याग, शील का आचरण करना है ताकि अगला जन्म भी सुफल बन जाय। (२) शिक्षा पाश्चात्य ज्ञान से प्रभावित होने के कारण पाश्चात्य प्रकार के रहन-सहन और वातावरण में दी जाती है। उसे ऐसा बोध कराया जाता है कि इससे सुन्दर जीवन इससे अच्छी भाषा, इससे व्यापक ज्ञान और कहीं नहीं मिलेगा। शिक्षा भी पुस्तकीय, व्यावहारिक नहीं। (३) भारतीय आदर्श सिद्धान्तों की तिलांजलि देकर पाश्चात्य प्रकार का भौतिक साधनों से सम्पन्न जीवन जीने के लिए हर बालक का पिता भ्रष्ट आचरण अपनाता है। कान्स्टेबिल का वेतन चंद रुपये—वह सारी व्यवस्था किस प्रकार करता है, चुंगी का चौकीदार टेरीलिन सूट पहन कर सोफे में बैठा हुआ ट्रान्जिस्टर कैसे सुनता है, कचहरी का बाबू कैप्सटन सिगरेट पीता हुआ मकान कैसे बनवा लेता है। सेल टैक्स, इनकम टैक्स इन्सपेक्टर कार पर चलता है, एक्साईज का अफसर दर्जनों सूट

और कूलर आदि की व्यवस्था करता है, को-आपरेटिव का गरीब आनरेरी अध्यक्ष विलासिता की सामग्री कैसे जुटाता है, सर्वोदय का सेवक पश्चिमी लिबास और वातावरण की चीजें कहाँ से पाता है, जनता का सेवक मन्त्री विदेशी बैंकों में खाता खोलकर कम्पनियों का शेयर कैसे खरीद लेता है—ऐसे और इस प्रकार के सैकड़ों प्रश्न हैं जो नई उठती पीढ़ी के मानस पर उठते हैं। निर्मल हृदय युवक तर्क करता है कि 'प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो' का पद रटाने वाले पिता जी रोज शाम को नोटों की गड्डियाँ लाकर आध्यात्मिक विश्वासों से युक्त गाँधी के इस देश में शराब और सिनेमा का सेवन करते हैं, सभा-सोसायटियों में जाकर ईमानदारी का उपदेश देकर नयी पीढ़ी को उनका (स्वयं का) अनुकरण करने का निर्देश देते हैं। ब्लेक मेलिंग के इस वातावरण में जीने वाली पीढ़ी देखती है कि सारा जीवन ही दुहरे मानदंडों और परिवेशों पर चल रहा है जहाँ भाषणों में चारित्रिकता और कार्यों में चारित्रिक पतन है।

ऐसी स्थिति में वह इस सड़े गलीच से बाहर आकर सब कुछ बदल देना चाहती है, उस पुराने मलबे को तोड़-फोड़ कर नये निर्माण का व्यवस्थित एवं मजबूत आकर्षक आकार प्रदान करना चाहती है। अवसर और साधनों के अभाव में वह अपनी उग्रता और आक्रोश को शब्दों में व्यक्त करती है। आज समाज का आन्दोलनात्मक रूप इसी प्रकार की अनेक प्रतिक्रियाओं का प्रतिफल है। जीवन के बेशकीमती २४ वर्ष पढ़ने में लगाने के बाद छात्र को पेट भरने की भी व्यवस्था नहीं। तब वह अपना काम धैर्य, संतोष और सहनशीलता के भाषण सुनकर नहीं चल सकता। वह प्रस्थापित गैरईमानदारों से संघर्ष कर बराबर का दावा करेगा। किसी का क्या हक है कि वह शोषण करके हमें संतोष करने का उपदेश दे। लोकतांत्रिक भारतीय जन-जीवन में सभी को समान अवसर मिलने चाहिए—यह सभी कहते हैं किन्तु अपने को बाँटने के लिए कोई तैयार नहीं। आन्दोलन, आक्रोश और आक्रामकता के यही

मूल कारण हैं।

साहित्य की नई पीढ़ी इसी नयी पीढ़ी का सबसे जागरूक अंग है जो इन सारी स्थितियों से गुजर कर समस्त आन्तरिक वेदनाओं और पीड़ाओं को भोगकर इस प्रकार अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। स्थापित लोग नये लोगों का मूल्यांकन पुराने परिवेश में करते हैं। वे भूल जाते हैं कि आज के सामाजिक परिवेश एवं मानदंड कितने बदल गये हैं। हम यह स्वीकार करते हैं कि यदि नई पीढ़ी ईमानदारी से इन स्थितियों का अनुभव न करके केवल अपनी उच्छृखंल प्रवृत्ति में आन्दोलनों और आक्रोश के लिए आक्रोश व्यक्त करती हुई अति के छोर पर आत्म-विश्वास और आत्म-दायित्व की सीमाओं का उल्लंघन करती है तो उसकी आलोचना की जानी चाहिए और स्पष्ट करना चाहिए कि यह नई पीढ़ी न तो पुराने के लिए ईमानदार है और न नए सामाजिक परिवेश के लिए सजग एवं सचेष्ट। इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ आज प्रायः सिर उठा रही है जिससे साहित्य और साहित्यकारों के सम्मान एवं गौरव को एक बड़ी सीमा तक धक्का लगा है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि सारा का सारा अस्वीकार और आक्रोश झूठा तथा बेबुनियाद है। इसमें सत्यता है जिसके कारण समाज में सर्वत्र मिलेंगे। चारित्रिकता, पवित्रता, त्याग, सेवा, आस्था, प्रेम, विश्वास, आदर्श, धर्म आदि शब्द आज अपना मूल्य खो चुके हैं। नई पीढ़ी को इनमें विश्वास नहीं रह गया क्योंकि स्वयं शब्दों को सार्थक बनाने वाले ही आज उनका मखौल उड़ा रहे हैं। दुहरी रीति-नीति और जीवन में जागरूक पीढ़ी को अधिक दिनों तक भरमाया नहीं जा सकता। जैसे ही उसे सप्रमाण ज्ञात हुआ कि यह सब बनावटी और शाब्दिक है, उस जाल को तोड़कर बाहर आ गई। उसने स्पष्ट कहा कि विश्व-मानवता का नारा बुलन्द करने वाले ही सबसे बड़े साम्प्रदायिक हैं—क्योंकि उन्होंने अपने स्वार्थी कर्मों से जन-जन के बीच दीवारें खड़ी कर दी हैं—

दीवारें

जो गाँवों कसबों, गली-मुहल्लों में खिली हुई हैं।

दीवारें,

जिनके कारण मेरे और तुम्हारे घर की

दूरी बढ़ती ही जाती है।

उन दीवारों को तोड़ने के लिये हमें उनसे संघर्ष करना है जो दीवारों के कारीगर हैं। इन दीवारों को तोड़ने के लिए सारी पीढ़ी को एक होना पड़ेगा :

आओ,

इसकी बुनियादों में सुरंगें बनकर विस्फोट करें।

इस पीढ़ी को अध्यात्म, दार्शनिकता और दायित्व की अलौकिक शब्दावली में अब निशस्त्र नहीं किया जा सकता क्योंकि इनकी वास्तविकताओं का उसे अनुमान हो चुका है। आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म के चक्कर—कब तक चलते, वह इन्हें ढोंग मानती है—क्योंकि उसके सारे के सारे प्रारम्भिक सपने बिखर गए—

मैं अनास्थावादी हूँ।

जीवन कटु सत्यों से टकराकर मेरी मान्यताएँ बिखर गईं।

नीति-प्रीति-प्रतीति अब शब्दमात्र हैं

मैत्री का अर्थ है स्वार्थ—

बनते-बिगड़ते मूल्यों में जीवन का आदर्श बिक रहा है

और, मैं—शक्ति का प्रतिरूप

सिद्धान्तों की जर्जर मीनारों पर खड़ा हूँ।

इससे अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति और वास्तविकताओं के प्रति नई पीढ़ी की प्रतिक्रिया और क्या चाहिए। चरित्रहीनता, ढोंग और आडम्बरों के इस उलझाव में रास्ता पा लेने के लिए खड़ी सुनहले सपनों वाली यह पीढ़ी भीड़ की सी स्थिति में है जहाँ वह हतप्रभ की मुद्रा में है। वह

बीहड़ में जाने के लिए कृतसंकल्प है जबकि दूसरे उन्हें पीछे से न खींचें और साथ चलने वाले उन्हें खाई में न ढकेल दें। भूखी, बेकार, खंडित आकांक्षाओं से त्रस्त, प्रगति और विकास की दौड़ में बराबरी से न दौड़ पाने वाली पीढ़ी में उग्रता, आक्रोश, खीझ के साथ ही या तो सब को उघाड़ कर एक-एक का लेखा प्रस्तुत करने की भावना उग्र होगी या निराश नतमुख होकर पलायनवादी बन जायेगी जो सिर पर हाथ धरे ओलों की वर्षा को चुपचाप बर्दाश्त करती है। दूसरी स्थिति की सम्भावना कम है, वह अज्ञानियों की मुद्रा है। आज का युवक ज्ञान-बुद्धि सम्पन्न युवक है। उसका विश्वास संघर्ष में है, पलायन में नहीं। वह अनसमझे तथ्य को समझना चाहता है, बुराई और बुराई वालों को समाप्त करना चाहता है, नई व्यवस्था लाना चाहता है, क्योंकि यह उमस अब सीमायें लाँघ चुकी हैं। वह अपने अस्तित्व का बोध लोगों को करा देना चाहती है जो इस प्रकार की अवस्थाओं, असंगतियों और पतनों के लिये जिम्मेदार है। क्योंकि उन्हीं के दुष्कर्मों का प्रतिफल समाज ने सदा से भोगा है जिससे—

> कचहरियाँ बाजार सी बजबजा रही है
> न्यायकक्षों की दीवारों पर क्रास पर टंगी हैं
> सत्य-अहिंसा और न्याय की रिचायें।

क्या हम कह सकने की स्थिति में हैं कि यह शत-प्रतिशत असत्य है? पुरानी लीक की दुहाई हम किस मुँह से देंगे? उसे तो हमने कालिमा से पोत रखा है। झूठ को अब सच कहकर प्रचारित नहीं किया जा सकता क्योंकि वैज्ञानिक युग के युवक अंधविश्वासों का अनुकरण करने वाले नहीं, उसके सत्यासत्य का परीक्षण करके आगे बढ़ते हैं। अभी तक उन्हें दूसरों के अनुसार जिलाया जाता है, उनकी पीड़ा के आँसुओं को आनन्दाश्रु कहकर परिभाषित किया जाता रहा—

> हम एक अप्रासांगिक जीवन जीते हैं

जहर के साथ हँसी और हँसी के साथ जहर पीते हैं,

फिर भी जीते हैं।

अथवा

और जब भी मैंने कभी इन जानी-पहचानी पटरियों को बदलना चाहा, सब कुछ छोड़ जीना चाहा,

मुझे जीने नहीं दिया गया।

पत्नी का भय, बच्चों का भविष्य, अपनी इज्जत का भय। परिणामतः सही चित्र ही अभी तक सामने नहीं आ पाता रहा। अब तो नई पीढ़ी इतनी समर्थ और साहसिक है कि वह अपनी बात खुलकर कहती है, और उनका सबका आपरेशन करती है जो अभी तक साज-सज्जा का परिधान पहने हमारे हाथ में केवल हवाई गुब्बारा थमा देती थी। शहरों की कृत्रिम जिंदगी, गावों की उपेक्षा, गरीबों की हँसी, अमीरों की चिन्ता। जब एक ओर मानवता चन्द्रलोक पर कदम रखकर निर्माण और प्रगति के नए आयाम बना रही है, तब हम स्वार्थ, भाई-भतीजावाद, खींच-खाँच और परस्पर आलोचना में उलझे हैं। पुरानी पीढ़ी को क्या हक है कि अपनी कार्य-सिद्धि के लिए वह नई पीढ़ी को भरमावे या उसे आगे बढ़ाने से रोके, उसके मार्ग में बाधायें उत्पन्न करे। जिन्होंने कभी प्रयास नहीं किया, त्याग नहीं किया—वे गद्दीधारी हैं, जो ईमानदारी से संघर्परत हैं उसकी बात भी सुनने के लिए तैयार नहीं। तब मानसिक तनाव और उग्रता को कौन रोकेगा ? जिस स्वतंत्रता से हमारी अनेक अपेक्षायें थीं वही स्वतंत्रता केवल चंद लोगों की सुख-सुविधा का साधन बन गई। स्वतंत्रता के पूर्व एक पवित्र लक्ष्य था जिसके लिए सब मर-मिट रहे थे। अब कोई लक्ष्य नहीं, पवित्रता नहीं, केवल स्वार्थों की दौड़। पहले विदेशी शोषक थे, अब हम स्वयं स्वदेशी शोषक बन गये। हमारे स्वप्न खंडित हो गए। हमने जो चाहा उसके विपरीत हुआ। जिनके हाथ में बागडोर है उन्हें भी ईमानदारी से काम नहीं करने

दिया जाता। बाधक कभी भी स्वतन्त्रता के साधक नहीं रहे। स्वतन्त्रता के सच्चे योद्धा चले गए।

जो बिना लड़े महाभारत जीत गए
उन्हें गद्दियाँ मिल गईं
कुर्सियाँ दुःशासन की नंगी जाँघों पर बैठ गईं।

× × ×

अगुये त्यागी देशभक्त, वे गरीब से ज्यादा गुलाम थे,
गद्दो पर बैठना उन्हें क्या आता
स्प्रिंग की उछाल ने उन्हें एक झटके से
नीचे गिरा दिया।

देश के सबसे पवित्र और जिम्मेदार स्थल विधान-सभायें एवं लोकसभा, राज्य सभा हैं। लेकिन अब वे भी स्वार्थ की हदबंदियों में बँधकर संकुचित दृष्टि से देखती और सीमित दिमाग से सोचती हैं। अतः देश के भविष्य की कल्पना की जा सकती है। आए दिन जो घटनाएँ घटती हैं, जो दृश्य देखने-सुनने में आते हैं वह बौद्धिक युवा पीढ़ी को—जो अपनी ईमानदारी के लिए आस्थावान है—तिलमिला देते हैं। उसे लगता है देश-विधायकों को न जाने क्या हो गया है, क्या संपूर्ण देश, देश की वर्तमान स्थिति एवं भविष्य की योजनाएँ उनके मस्तिष्क में नहीं हैं। इस प्रकार समय बरबादकर गैरजिम्मेदारी से देश का निर्वाह कैसे होगा? नयी पीढ़ी को सक्षम बनाने वाले विद्या मन्दिर भी राजनीति एवं स्वार्थ-सिद्धि के साधन बन गये हैं। वहाँ की पवित्रता एवं सदुद्देश्य प्रश्न-चिह्नों से अछूते नहीं रहे। अफसर लोग इतने वर्षों के बाद भी जनता के निकट नहीं आ सके। अपने आदर्शों को हमने सबल बनाने की बजाय उन्हें नष्ट ही किया है। तब इस देश का क्या होगा? इस नयी पीढ़ी को सबसे अधिक चिन्ता इसी बात की है। क्योंकि अभी उसे पूरी जिन्दगी जीना है और भविष्य को कुछ देना भी है—विश्व प्रगति के साथ देश को दौड़ाना भी है।

इन सब अन्तर्बाह्य यथार्थ स्थितियों के प्रति जागरूक यह पीढ़ी संघर्ष के लिए कृतसंकल्प है । उसका लक्ष्य आत्महत्या करना नहीं, बल्कि उन लोगों को अलग करके बेनकाब करना है जो इन सब गड़बड़ियों के लिए जिम्मेदार हैं । यह पीढ़ी वर्तमान बदले परिवेशों को आत्मसात कर सही दिशा की तलाश में है, जिस ओर देश की इस गाड़ी को दलदल से निकाल कर आगे प्रगति-गति के साथ बढ़ाया जा सके—

फिर भी हम निकालेंगे धँसे पहिये
हम सूर्य संतानें
भले ही नाजायज करार दिये गये
अँधेरा कंधों पर धरकर उछालेंगे ।

उपर्युक्त तथ्यों के संदर्भ में हमें जहाँ देश की बदलती स्थितियों का विश्लेषण करना होगा वहीं नयी पीढ़ी का मनोवैज्ञानिक पक्ष भी महत्वपूर्ण है । यदि उनकी मन:स्थिति को समझकर सभी पक्षों की छान-बीन की गई तो कहीं न कहीं किसी मात्रा तक अवश्य अनुभव होगा कि हमारी स्थापनाओं के परिवेश निश्चित ही बदले हैं जिसके प्रति नयी पीढ़ी की प्रतिक्रिया स्वाभाविक है । मुख्य बात यह है कि पीढ़ी और मूल्यांकन करने वाले दोनों अति के छोरों से हटकर सही दृष्टि से विचार करें । अतिवादिता सत्य को सदा ही ढंक देती है । आज की पीढ़ी का यह दायित्वपूर्ण धर्म है कि वह वर्तमान सामाजिक स्थितियों, बदलते परिवेशों, मान मूल्यों-मान-दंडों के स्वरूपों का यथार्थ अंकन और वस्तुस्थिति का विश्लेषण करे और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए भविष्य निर्माण के संकेतों की ओर बौद्धिकवर्ग का ध्यान आकृष्ट करे । पुरानी पीढ़ी को आगाह कर नयी पीढ़ी को सतर्क करना भी उसका धर्म है । यदि राष्ट्र के नये जीवन और भविष्य के प्रति यह बौद्धिक पीढ़ी चिन्ता न करेगी तो देश-निर्माण की आधार-शिला ही गलत होगी । अतः प्रगतिशील पीढ़ी को अपने साहित्यिक धर्म के प्रति भी जागरूक और ईमानदार होना पड़ेगा ।

साहित्यकार की प्रतिबद्धता

मेरी समझ में 'प्रतिबद्धता' शब्द जहाँ एक बड़े उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता है वहीं लगता है कि वह व्यक्ति को किसी सीमा विशेष में तो नहीं बाँध रहा—लेकिन ऐसा है नहीं। प्रयोग से शब्द की सीमायें भी खिच जाती हैं। प्रतिबद्धता का संकुचित अर्थ उसकी इसी प्रकार की प्रयोगधर्मा सीमा का रूप है। हम अपनी सुविधा के लिए सकारात्मक और नकारात्मक प्रवृत्ति के अनुसार किसी शब्द का आशय गढ़ने और ग्रहण करने लगे हैं। 'प्रतिबद्धता' को भी हमने इसी प्रकार ग्रहण किया।

कुछ दिनों पूर्व से प्रतिबद्धता को अस्वीकार करने की क्रिया प्रारंभ हुई और इस शब्द को इतना बौना बना दिया गया कि लगता है कि यदि कोई प्रतिबद्ध होगा तो वह साहित्यकार हो ही नहीं सकता या तथाकथित साहित्यकार उसकी साहित्यिकता का प्रदत्त प्रमाण-पत्र छीन लेंगे। शब्द संकुचित है, ऐसा मैं नहीं मानता। गाँधीजी कीं अहिंसा को भी लोगों ने संकुचित अर्थ में लिया, केवल मारने और न मारने की स्वीकृति-अस्वीकृति ही हिंसा और अहिंसा के अन्तर्गत मानी जाने लगी। अहिंसा इतना संकुचित न तो शब्द हैं, न भाव। इसीलिए गाँधीजी को अहिंसा की

व्यापकता की व्याख्या अनेकों बार सफाई के तौर पर करनी पड़ी। सत्य,प्रेम, पवित्रता के साथ अहिंसा को एकात्मकता बतलाकर गाँधीजी ने उसके व्यापक रूप को सँभाला। 'प्रतिबद्धता' शब्द एवं भाव न तो अपने आप में संकुचित हैं और न ही छोटा। यह हमारी ग्रहणरीति एवं आत्म-प्रवृत्ति है कि उसे हमने इस रूप में स्वीकार कर साहित्यकार की भावना से निकाल फेंकने का संकल्प किया।

मेरा ख्याल है कि वह व्यक्ति जो बौद्धिक है, वह व्यक्ति जो राष्ट्र, समाज, राजनीति, अर्थ, धर्म एवं शिक्षा आदि के प्रति जरा भीं जागरूक है, जो परिवार, मित्रों एवं सगे-संबंधियों के बीच जी रहा है--वह अप्रति-बद्ध होकर रह ही नहीं सकता। प्रतिबद्धता का अर्थ किसी से जुड़ने का ही तो है—जिसका दूसरा अर्थ है स्वीकृति या लगाव। अप्रतिबद्ध होकर साधु-संन्यासी-जो समाज से हटकर जीवन बिता रहे हैं वहीं रह सकते हैं। साहित्यकार भी इन्हीं तमाम तथ्यों से जुड़ा एक सामाजिक है जिसके लिए संवेदनाधिक्य से प्रभावित होने की मान्यता स्थापित की गई है—जिसका अस्वीकार आज भी नहीं है। जब समाज का संवेदनशील, सजग और बौद्धिक प्राणी साहित्यकार है, तब वह प्रतिबद्धता को अस्वीकार किस बूते पर करता है—यह एक चिन्तनीय गम्भीर तथ्य है। यदि वह सजग प्रतिबद्ध और बौद्धिक नहीं, तब क्या भीड़ में सम्मिलित लोगों की तरह उद्देश्यहीन उच्छृङ्खलता ही उसकी प्रवृत्ति है। बालकोचित दृष्टि कवि की नहीं हो सकती। यह अवश्य माना जा सकता है कि उसकी प्रतिबद्धता नासमझ बालक की जैसी नहीं है—जो हर तरफ आकृष्ट होता है, बल्कि सोच समझ कर कदम उठानेवाले जिम्मेदार युवक की उसकी प्रति-बद्धता है।

प्रतिबद्ध न होने की बात मैं दो स्थितियों में स्वीकार करता हूँ—(१) पलायन (२) नासमझी। साहित्यकार की पलायनवादी प्रवृत्ति सबसे दुःखद है। यदि वह समाज के बीच रहकर जीना चाहता है, खुली आँखों

से देखता और खुले दिमाग से सोचता है तो वह पलायनवादी होकर रह नहीं सकता । यदि वह ऐसा करता है तो उसकी नपुंसकता कही जावेगी। नपुंसकता के लिए कोई क्या कह सकता है । तब अपनी नपुंसकता ढकने के लिए वह अप्रतिबद्धता की बात करता है हम उसे साहित्यिक-प्रति-बद्धता के संदर्भ में नहीं लेंगे—बल्कि नपुंसकता ही मानेंगे। पुरुषार्थी व्यक्ति अप्रतिबद्ध होकर रह नहीं सकता। इसी प्रकार दूसरे वे लोग अप्रतिबद्ध हो सकते हैं जो नासमझ हैं। जब किसी तथ्य के पक्ष-विपक्ष, गहराई-उथलापन समझ पाने का सामर्थ्य ही उनमें नहीं है, तब अप्रतिबद्ध रहने के सिवा और चारा ही क्या है ? ऐसी दयनीय अप्रतिबद्धता क्षम्य है। क्योंकि नादानी और नासमझी का इलाज साहित्यकारों की प्रति-बद्धता में नहीं मिलेगा।

नपुंसकता और नासमझी आज के साहित्य में प्रायः कम ही देखने को मिलती है—बल्कि इस नपुंसकता और नासमझी को आक्रोश और आक्रामकता की शब्दावली में ढँकने का प्रयत्न अवश्य है। आज के नवो-दित साहित्यकार जब यह घोषणा करते हैं कि वे अप्रतिबद्ध हैं, किसी से जुड़े नहीं हैं अपने मार्ग पर दृढ़ हैं, दूसरी ओर वे समाज, शासन, धर्म की वर्तमान व्यवस्थाओं को तोड़कर पुरानी रूढ़ियों, मान्यताओं अन्धविश्वासों, तथा नई पनपी भ्रष्टाचार, स्वार्थ, विषमता और पूँजीवाद की प्रवृत्तियों को नेस्तनाबूत कर देने के लिए सचेष्ट हैं—तब ऐसा स्पष्ट लगता है कि वे परस्पर विरोधी घोषणायें कर रहे हैं। यदि आप अप्रतिबद्ध होकर अपने शरीर की लक्ष्मण रेखाओं में बँधे हैं तो आपको फिर दूसरों पर उँगली उठाने, भला-बुरा कहने, नए पुराने की व्याख्या के बाद नवीन स्थापनाओं के संकेत करने के क्या हक हैं ? अगर आप दूसरों के बीच दखल देते हैं—इसका आशय है कि आप कहीं न कहीं दूसरों से जुड़कर किसी न किसी रूप में प्रतिबद्ध अवश्य हैं। इसके लिए कोई दस्तावेज देने की जरूरत नहीं है, आपकी अभिव्यक्ति ही इसका सबसे बड़ा सबूत है।

हम यह मान सकते हैं कि आप पुराने धर्म, परम्परा-विश्वासों, वादों और व्यवस्थाओं के विरोधी हैं, प्रचलित शासन व्यवस्था की स्वार्थी, भ्रष्टाचारी कुवृत्तियों से आपको घृणा है, समाज में फैली चरित्रहीनता से आपको चिढ़ है—इसलिए ऐसी किसी भी व्यवस्था के प्रति आप प्रतिबद्ध नहीं हैं। हम इसे स्वीकार करते है—और इस सीमा तक कि अप्रतिबद्धता जागरूक साहित्यकार के लिए वरेण्य है। लेकिन इसका तात्पर्य यह तो नहीं कि आप विश्व, राष्ट्र, समाज, शासन, धर्म, परम्परा और कानून अस्वीकार करते हैं। निश्चित रूप से नहीं। इसका प्रमाण हमें मिलता है।

हर युग में साहित्यकार पुराने को अस्वीकार करता रहा है। हर आने वाली नयी पीढ़ी ने नयी व्यवस्था की स्थापना के लिए संघर्ष और आन्दोलन किया है। नयी व्यवस्था उस युग के अनुकूल, उपयोगी और भावी समाज व्यवस्था के लिए अनुपयोगी सिद्ध हुई है। यह अस्वीकार अपने साथ भविष्य व्यवस्था के बीज बोता चला है। पुराने के प्रति प्रतिबद्धता के लिए कोई विवश नहीं कर सकता किन्तु नये से अप्रतिबद्ध होने का झूठा संकल्प भी स्वीकार्य न होगा। आज का साहित्यकार भी पुराने साहित्य पर आक्रमण करता है, उसे अनुपयोगी और अयुगीन करार देता है—स्पष्टत: वह नये साहित्य की सर्जना के लिए आकुल है जिसका अर्थ है कि वह साहित्य के प्रति जुड़ा और नए साहित्य की सर्जना के लिए प्रतिबद्ध है। पुरानी परम्पराओं, धर्माडम्बरों, अंधविश्वासों की वह कटुतम आलोचना कर उनकी जगह नयी दुनिया की स्थापना के लिये प्रेरित करता है—उपदेश के रूप में न सही पुराने की आलोचना के माध्यम से ही सही। शासन की वर्तमान नीतियों से उसे न केवल असंतोष है, बल्कि उससे घृणा भी करता है, और उसे तहस-नहस कर देना चाहता है या यह कहता है कि ऐसी शासन व्यवस्था में रहने लायक नहीं है—जिसका अर्थ है कि वह नई शासन-व्यवस्था का समर्थक बनकर रहना चाहता है।

स्पष्ट है कि वह नयी समाज और शासन-व्यवस्था के लिये आतुर एवं प्रतिबद्ध है। क्या हम उसकी इस प्रकार की आतुरता को यह न माने कि वह समाज की गतिविधियों के प्रति सजग है, सहानुभूति है, और बदल कर नया रूप देना चाहता है। नए रूप के प्रति उसकी ललक उसकी नये के प्रति प्रतिबद्धता का लक्षण है।

साहित्यकार ने सदा ही प्रतिबद्धता के इस दायित्व का निर्वाह किया है—आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल, आधुनिक काल के सभी साहित्कार कभी इससे मुक्त नहीं रहे। आज के साहित्यकार भी अपनी अन्तरात्मा से आक्रोश और आक्रामकता के स्वर बुलन्द कर भविष्य के स्वरूप के प्रति प्रतिबद्ध दिखाई देते हैं। पुराने के प्रति अप्रतिबद्धता, वर्तमान के प्रति आक्रोश एवं आक्रामकता तथा अप्रत्यक्ष रूप से भविष्य के प्रति उनकी सहानुभूतिपूर्ण प्रतिबद्धता वरेण्य है।

असंतोष, घृणा, निराशा सभी में होती है—लेकिन सजग बौद्धिकता एवं सवेदनशीलता के कारण तरल हृदय साहित्यकार उसे अधिक तीव्रता से अनुभव कर उससे शीघ्र कटने की चेष्टा करता है। किन्तु भूत-वर्तमान से कटाव का अर्थ ही है भविष्य से लगाव। इस लगाव से प्रतिबद्धता अलग परिभाषित नहीं की जा सकती। कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार, समालोचक अपना प्रतिपाद्य समाज से ग्रहण कर अपनी स्वीकृति-अस्वीकृति, संतोष-असंतोष व्यक्त कर अपनी रुचि का ज्ञान पाठकों को कराते हैं। समाज से सामग्री लेकर नये समाज के संकेत देने वाले साहित्यकारों को मैं समाज का सबसे अधिक प्रतिबद्ध प्राणी मानता हूँ। इसे हम अपनी घोषणाओं के द्वारा नकार कर अपनी जिम्मेदारियों से मुकर नहीं सकते।

असल में आज का साहित्यकार किसी प्रकार की जिम्मेदारी अपने कंधे पर नहीं लेना चाहता। उस जिम्मेदारी से मुक्त रहने के लिए वह अप्रतिबद्धता का नारा बुलन्द करता है। जिम्मेदारी इसलिए अस्वीकारता

है क्योंकि उसे इस व्यवस्था से संतोष नहीं है, कोई उसकी बात सुनता नहीं है, इसलिए दूसरों के गलत-चलाने पर वह क्यों चले। बारीकी से देखें तो जिम्मेदारी से मुक्त होना अप्रतिबद्ध होना नहीं है। जिम्मेदारी से मुक्त होकर भी आप सामाजिक हैं, और समाज की हर घटना के साथ आपकी प्रतिक्रियायें हैं, भविष्य के लिए विचार हैं—साहित्यकार के लिए यही बड़ी प्रतिबद्धता कही जायेगी। 'रिटायर्ड' व्यक्ति आफिस की जिम्मेदारी से मुक्त होता है, समाज की सीमाओं से नहीं, वहाँ वह जुड़ा है। इसी प्रकार साहित्यकार स्थूल रूप से अप्रतिबद्धता की बात ऊपरी तौर पर भले करे किन्तु मूल रूप से सजगता, बौद्धिकता एवं सवेदनशीलता के कारण वह हर पीड़ा से दुखी होकर उससे मुक्त होने की बात सोचकर दूसरों को जगाता है। यह कार्य साहित्यकारों ने सदा किया है। अतः उनकी यह आन्तरिक प्रतिबद्धता बहुत महत्वपूर्ण है, जिससे मुक्त होने की बात करना केवल बेमानी भाषण कही जायेगी।

कई बार प्रतिबद्धता संकुचित विचार धारा का शिकार होकर समाज एवं भावी इतिहास का बहुत बड़ा अहित करती है। जब साहित्यकार शासन, राजनीति, धर्म या वाद किसी के भी साथ विशेष तौर से जुड़कर केवल अपने दुराग्रहों को ही साहित्य का विषय बनाता है तब अपने इस जोड़ के कारण वह दूसरों की या तो आलोचना करता है या इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उनका रूप विकृत बन जाता है। अपनी गलत बात को सही और दूसरों की बात को गलत बताने की चेष्टा करता है। इस प्रकार के वादों से वे वही सिद्धान्त दुहरायेंगे जो उनके अनुकूल होंगे। कुछ प्रगतिवादियों ने इसका सबसे बड़ा उदाहरण हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत किया है। आज भी कुछ साहित्यकार इसी मार्ग पर चल रहे हैं। जब साहित्य या साहित्यकार किन्हीं राजनैतिक वादों, या संकुचित विचारधाराओं का पक्षधर बन जाता है तब वह क्षणिक आकर्षण भले प्राप्त कर ले किन्तु कुछ समय बाद वह अपने आप को दुहराने लगता है जिसका

आशय है कि इस प्रकार का साहित्य न तो दीर्घजीवी होता है और न बहुत समय तक प्रभावशाली। साहित्यकारों को इस प्रकार की अति-प्रतिबद्धता से जहाँ तक संभव हो बचना होगा क्योंकि तब वह सही तथ्य प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे। उसे समाज से जुड़ना है, वर्ग से नहीं—क्योंकि वह सभी का है। व्यक्तिगत जीवन में ऐसी बातें आती हैं किन्तु साहित्य व्यापक एवं सम्यक दृष्टि का लिखित रूप है। साहित्यकार को इस दायित्व के प्रति सतत जागरूक रहना होगा। यदि वह वर्गगत, वादगत, कालगत आदि प्रतिबद्धताओं का अस्वीकार करता है तो वह गलत नहीं है। किन्तु सम्पूर्ण तंत्र, सम्पूर्ण समाज, सम्पूर्ण मानव समुदाय की अस्वी-कृति हठ की अतिवादिता ही कही जायेगी। अप्रतिबद्धता नहीं।

समीक्षा का संकट

•

•

आज आलोचना के क्षेत्र में बरसाती जल की सी अस्वच्छता दिखाई पड़ती है जहाँ जल की तरह दृष्टियाँ भी अस्पष्ट हैं। विडम्बना यह है कि इस विशेषीकरण के युग में जहाँ एक ओर लोग अपनी-अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिए विशेषज्ञ होने का दावा करते जा रहे हैं—वहीं साहित्य क्षेत्र के लेखक बहुज्ञ और बहुमुखी प्रतिभा वाले बनकर अपनी कमजोरियों को ढंकने के लिए यश-लिप्सा के घेरे में प्रयासरत हैं। आज का कवि, कहानीकार और लेखक किसी दूसरों की समीक्षा या समालोचना की अपेक्षा नहीं करता बल्कि विभिन्न माध्यमों से स्वयं आलोचक होकर उन बातों को व्यास की तरह स्थूल रूप से समझाता है जिन्हें वह अपनी रचनाओं में किन्हीं कारणों से प्रस्तुत कर सकने में असमर्थ सिद्ध हुआ था। चाहे वह वक्तव्य के द्वारा हो या अपनी रचना के विशिष्ट तथ्यों के उद्घाटन के लिए लेख। क्योंकि उनकी धारणा बन चुकी है कि दूसरे उनके उन रहस्यात्मक तथ्यों को उस रूप में समझ नहीं सकते जिन्हें उन्होंने किसी विशिष्ट दृष्टि से रचना में प्रस्तुत किया था। आम जनता का जीवन जीकर आम जनता की यथार्थ-स्थितियों को प्रस्तुत करने का

दावा करने वाले वे लेखक जब समीक्षक बनते हैं तो गौरव के साथ कहते हैं कि हमारा लेखन आम लोगों के द्वारा समझा जा सकने वाला सतही लेखन नहीं हैं। वे स्वयं बौद्धक वर्ग के हैं अतः बौद्धिक वर्ग 'इन्टेलेक्चुअल्स' के लिए लिखते हैं। इसका अप्रत्यक्ष आशय यह है कि वे स्वीकार करते हैं कि उनके वे दावे थोथे हैं कि उन्होंने आम जनता के बीच की अनुभूतियाँ समेटकर आम जनता के लिए ही यथार्थ भावों की अभिव्यक्ति की है। आभिजात्य वर्ग का लेखक जिस प्रकार का नाट्य लेखन में करता है, वही नाटकीय थोथापन उनकी समीक्षाओं में भी है।

एक और विचित्र स्थिति देखने में आ रही है कि कल का बछवा दूसरे दिन ही सांड़ों की भीड़ में साँड़ कहलवाने के लिए प्रयत्नशील है। कोई भी नवयुवक किसी के बारे में कुछ भी लिखकर समीक्षक जैसी मूँछें ऐंठने लगता है। समीक्षा करने का अधिकार हर ऐरे गैरे का नहीं है। जिसने साहित्य नहीं पढ़ा, जिसने लेखक की पृष्ठभूमि को नहीं समझा, जो रचना की मानसिक स्थिति में नहीं उतरा, जिसने युग-स्वर, युग-जीवन और अतीत की परम्परा को आत्मसात कर भविष्य को दूर से देख लेने की शक्ति अर्जित नहीं की, स्वयं संवेदनशील नहीं है, जिसमें निर्भीकता नहीं है, जिसमें युगानुकूल परिवर्तनों के सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभवों को आत्मसात कर वायु की दिशा समझ लेने की सूझबूझ नहीं है—वह समीक्षक होने का दावा कर नहीं सकता। न्याय-बुद्धि के द्वारा अपने आप में तथ्यों को समझकर निर्णय-शक्ति जागृत करना बहुत बड़ा कार्य है। इसीलिए मै समीक्षक के कार्य को रचनाकार के कार्य से भी कठिन मानता हूँ। जिस प्रकार आप सिक्का हाथ में लेते ही पहचान लेते हैं—वैसे ही रचना पढ़कर यदि उसके मूल मनोभाव को बुलन्दी से पकड़ लें तो आप समीक्षक होने का दावा कर सकते हैं। मेंढकों द्वारा पेट फुलाकर बैल बन जाने की जो प्रवृत्ति दिख रही है—उसे समीक्षा और साहित्य दोनों के लिए ही घातक कहा जायेगा।

वर्गवाद के इस युग में कुछ लोग तो ऐसे नए समीक्षकों की पीठ थपथपा देते हैं जो उनका यशगान कर दूसरों की निंदा साहस से कर सकें। इस पूर्वाग्रह के रोग से जब पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे दिग्गज मुक्त नहीं हुए तो अंकिचनों की स्थिति ही क्या है। फिर भी उनमें समीक्षक की प्रतिभा, ईमानदारी सभी दृष्टियों से थी। यहाँ तो समीक्षक की प्रतिभा और शक्ति-अर्जन की ईमानदारी कुछ भी दिखाई नहीं पड़ती। इन लोगों ने साहित्य में ऐसे अनगढ़ समक्षक कुकुरमुत्तों की तरह उपजाये हैं जिनकी न स्वयं की दृष्टियाँ हैं न दूसरों को समझने की शक्ति अथवा जिज्ञासा है।

परिणाम यह हो रहा है कि नई समीक्षा ठीक से पनप नहीं पा रही—और पुरानी समीक्षा को परम्परावादी, प्राध्यापकीय या अयुगीन 'आउट ऑफ डेट' कहकर दुत्कारा जा रहा है। जिस प्रकार साहित्य में मूल्य टूटने या मूल्य तोड़ने का हल्ला भरपूर है—किन्तु मूल्य क्या हैं—नए मूल्य कहाँ बने, कहाँ स्थापित हुए—इसे बताने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। जहाँ तक प्राध्यापकीय समीक्षा कहकर बचकर निकलने की असफल चेष्टा है—वह तार्किक नहीं कही जा सकती। अध्यापक ही वह सजग साहित्य-सर्जक या पाठक और अध्यापक होता है जो पुराने को आत्मसात किए हुए वर्तमान में नवीनता की खोजकर भविष्य के लिए उपलब्धियों का संकेत करता चलता है। अध्यापक में भूत-वर्तमान और भविष्य तीनों किसी बिन्दु पर एकत्र होते हैं। इसीलिए यदि अध्यापक ने ईमानदारी से बिना किसी पूर्वाग्रह के अपनी अनुभूत प्रतिक्रियाओं को व्यक्त किया है तो उसका दृष्टिकोण एकांगी नहीं होगा। अध्यापक भूत को पढ़ता-पढ़ाता है, वर्तमान को जीता और पढ़ता है, भविष्य के लिए अनुभूतियों के द्वारा मार्ग की कल्पना करता है। यही कारण है कि समीक्षा को परिपुष्ट करने का अधिकांश श्रेय प्रारम्भ से ही अध्यापकों को ही रहा है जिन्हें आज अयोग्य करार देने की चेष्टा की जा रही है। बल्कि

दृष्टियों से जो आधुनिकतम साहित्य गुजरता है उनके आधार पर उनकी दृष्टि समीक्षा के नए-नए मानदंडों का निर्माण और पक्षों का उद्घाटन करती चलती है।

असल में इस समय आलोचना क्षेत्र में भी दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ विशेष दिखाई पड़ रही हैं—(१) किसी भी कृति को पुराने मानदण्डों के आधार पर कसकर उसकी अच्छाइयों-बुराइयों को नीरस ढंग से उद्घाटित करने की चेष्टा। पहिले से निर्धारित मानदण्डों में आज की कृति को कसा नहीं जा सकता—कारण यह है कि नई कृतियों के लिए पुराने मानदण्ड बहुत असामयिक और कुंठित सिद्ध हो चुके हैं। उसके लिए नई दृष्टि के साथ ही बिना किसी पूर्वाग्रह युगीन संदर्भ में कृतिकार की सफलताओं असफलताओं, उपलब्धियों का मूल्यांकन किया जा सकता है। जैसे आज की कहानी को हम वही पुरानी पद्धति कथानक, चरित्र चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, भाषा शैली और उद्देश्य आदि के पैमानों पर नापें तो या तो समीक्षक बुरी तरह असफल होगा—या रचना की दुर्दशा होगी क्योंकि इन घेरों को तोड़कर कहानी-कविताएँ आज बहुत आगे बढ़ गई हैं। यदि रचनाकार के साथ कदम बढ़ाकर समीक्षक नहीं चल पाता तो उसे समीक्षा करने का अधिकार नहीं है। समीक्षा की नई भाषा भी अत्यन्त आवश्यक है।

एक दूसरी बात जो दिखाई देती है—वह यह कि एक ओर जहाँ हम पुराने मानदण्डों को छोड़ रहे हैं—वहीं अपनी किसी एक आलोच्य कृति से हम नए मानदंडों की स्थापना या निर्माण का प्रयास करते हैं। हम कृति की अच्छाइयों-बुराइयों, उपलब्धियों-अनुपलब्धियों का आकलन न करके नवीनता के मोह में इतना ज्यादा उलझ जाते हैं कि कृतिकार की हर नवीनता को उपलब्धि मानकर उसे सर्वाधिक विशिष्ट घोषित कर दूसरों के लिए आदर्श मानदण्ड की घोषणा करते हैं। हम कृतिकार के हर तथ्य को एक उपलब्धि कैसे मान लेते हैं ? हम प्रशंसा में

इतना क्यों बहक जाते हैं कि उसके हर पैराग्राफ में एक अद्वितीय ढूँढ़ने की बात करते हैं। न हम कृतिकार की कृति को पुराने मानदण्डों में तौलें और न ही कृतिकार की कृति की प्रत्येक बात को एक नया मानदंड बना दें। मुक्तिबोध या राजकमल आदि की रचनाओं के साथ कुछ इसी प्रकार का बर्ताव हो रहा है। पुराने मानदण्ड वहाँ असफल हैं किन्तु इन लेखकों की प्रत्येक बात को नए साहित्यकार (विशेषकर कविता क्षेत्र में) के लिए आदर्श मानदण्ड कहकर आरोपित किया जा रहा है ताकि वे महान् सिद्ध हो सकें। यह मान्यता है कि कृतिकार के प्रेमी या समीक्षक जहाँ उसे महान् घोषित करने की चेष्टा करते हैं—वहाँ वे उसके साथ बहुत बड़ा अन्याय और विश्वासघात करते हैं। क्योंकि महान् की मूर्ति सोने में मढ़कर ऊपर बिठा दी जाती है फिर वह सामान्य के साथ जमीन में चलकर गतिशील नहीं रह जाती—उसकी जड़ता उसकी शीघ्र मृत्यु की घोषणा कर देती है।

अतएव आवश्यक है कि अति के इन दोनों छोरों से बचकर सही स्थान पर पहुँचने की ईमानदार चेष्टा हो। हम कृतिकार को कुछ देर के लिए छोड़कर यह देखें कि कृति किस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती है। उसमें वह समाज जीवित होकर आ सका है अथवा नहीं। क्या वस्तुतः हमें उस जीवन के यथार्थ एवं सजीव दर्शन होते हैं जहाँ रहकर वह कृति जन्मी है। क्या उसमें वह भाषा-शैली इतनी सामर्थ्यवान है कि वह उन स्वरों को आत्मसात कर उतनी ही सचाई से अपने भाव व्यक्त कर सकी है ? क्या उसमें जीवन जगत की सहजता कृत्रिमता से दूर रहकर पनप पाई है ? हम उस कृति के साथ अपनी कितनी निकटता स्थापित कर पाते हैं—अथवा उस समाज को देख कर हमने जो समझा है, वह उस कृति से कितना मेल खाता है ? क्या वह लेखक उन सामाजिकों के साथ घुलमिल सका है और क्या वह उन शब्दों में वे अनुभूतियाँ पाठकों में भी जगा सकने में सक्षम हो सका है जिन अनुभूतियों की शब्द-बद्ध प्रतिक्रिया

उस कृति में उतरी है ? यदि वे पात्र सजीव हैं, चित्र यथार्थ हैं, भाषा शक्तिवान है, शैली सहज बन सकी है और यदि उसमें अप्रयासित सहज समाज के स्वर बोल रहे हैं—तो कोई कारण नहीं कि हम उस कृति का समादर न करें।

अन्त में यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हम घरौंदों से निकलकर उन्मुक्त वातावरण में उन्मुक्त दृष्टि से समीक्षा धर्म का निर्वाह करें। पहले हम में समझने पकड़ने की शक्ति उद्भूत हो, हम निर्भीक बनकर ईमान-का निर्वाह कर सकें। और अति तथा पूर्वाग्रहों के किनारों से दूर रहकर कृति को युग-जीवन सापेक्ष धरातल पर रखकर सत्य बात का उद्घाटन कर सकें, तभी समीक्षा की नयी दिशायें बन सकती हैं। समीक्षा का संकट दूर होता अभी काफी दूर दिखाई पड़ता है। इसके लिए हमें व्यक्ति छोड़-कर कृति को आत्मसात करना होगा। न हम पहिले से नाप जोखकर दरजी की तरह लेखन पर कैंची चलायें और न ही किसी कृति को नए के लिए दिशा-बोधक बना दें। क्योंकि अपनी बात जबर्दस्ती लादने वाला अथवा किसी भी बात में बिना विवेक के 'हाँ' में 'हाँ' 'ना' में 'ना' मिलाने वाला दोनों ही बहुत हानिकारक हैं। ये दोनों ही अज्ञानी स्तर के समीक्षक कहे जायेंगे।

●

भाषा की तलाश नहीं, विकास हो

यहाँ मैं एक बात की चर्चा करूँगा जिसे आज प्रचारित-प्रसारित करने की चेष्टा साहित्य में साधनों के माध्यम से की जा रही है क्योंकि कुछ लोग यह मानकर बैठे हैं कि वे अपनी गद्दी से जो कह देंगे, अपनी लेखनी से जो लिख देंगे वह सभी चिन्तकों-साहित्यकारों के लिये वेद-वाक्यों का कार्य करेगा। वे भूलते हैं कि आनेवाली पीढ़ी उनसे अधिक सजग और सचेष्ट है।

आजकल यह कहा जाता है कि भाषा अपना अर्थ खो चुकी है— इसलिए नई भाषा की तलाश की जानी चाहिए। यदि नई भाषा न तलाशी गई तो साहित्यिक भविष्य अंधकारमय होगा। चूँकि एक ने कह दिया इसलिये अनेक कहेंगे कि वस्तुतः बात सही है। इसी बहाने किसी कोने में नाम दिखाई देगा। मुझे यह प्रश्न ही अगम्भीर लगता है। क्योंकि तलाशी भाषा नहीं जाती, न वह कभी तलाशी गई, वह स्वयं अपने आप बनती है और व्यवहार से विकसित होती चलती है। जिसे भाषा विज्ञान में अर्थविकास कहा जाता है। लेकिन इसके लिये प्रयास

नहीं करना पड़ता है। वह सब अपने आप होता चलता है। जो शब्द हजारों वर्ष पूर्व प्रचलित थे वे आज भी नये अर्थों के साथ प्रचलित हैं। कहीं ऐसा नहीं लगा कि किसी ने कठिनाई का अनुभव किया हो। या किसी महर्षि ने ढोल लेकर शोर मचाया हो कि ठहरो, अब मैं तुम्हारी भाषा की शब्दावली और अर्थ बदलता हूँ, तुम अबसे इसी को सही समझो। यह बहुत कठिन बात है। स्वाभाविक परिवर्तन सरल है—परन्तु योजना-बद्ध ढंग से कृत्रिम प्रयास—जो सर्वग्राह्य और सर्वमान्य हो—कठिन है। यह तो सरकार द्वारा नियुक्त समिति शब्द कोशों में कार्य कर सकती है। वह भी अर्थ गढ़ती नहीं, प्रचलित शब्दावली और अर्थों को ही संकलित करती है। जो गढ़ती है वह उसके पूर्व प्रयुक्त नहीं हुए होते। लेकिन यह बहुत कम होता है। यह काम लेख लिखकर नारा लगाने से सम्भव नहीं होता।

जहाँ भाषा की तलाश शुरू हुई—वहीं कृत्रिमता आई। वहाँ सहजानुभूति की सम्भावना कम रहती है। क्योंकि लेखक का सारा ध्यान तो भाषा के ऊपर केन्द्रित रहता है। हम भाषा को भावों की वाहिका मानते हैं लेकिन तब स्थिति एकदम उल्टी होगी। भाषा भावों को दबा कर रखेगी।

आज भी भारतीय लोक भाषाओं और लोक साहित्यों में अर्थ अस्पन्न शब्दावली है जिसको हम लोग पूरी तरह न जान पाये हैं, न ग्रहण कर पाये हैं। शहरी शब्दावली में आभिजात्यपन भले आ गया हो पर ग्रामीण शब्दावली की सटीक सार्थकता को वह आज भी ग्रहण नहीं कर पाई। ग्रामीण भाषा के बीच की दैनिक जीवन की शब्दावली यदि प्रयुक्त होने लगे तो कोई कारण नहीं कि हमें तलाश की दिक्कत हो। यदि लेखकों का लक्ष्य यही है तो निःसन्देह शुभ है लेकिन तब यह व्यवहार-प्रसार की बात होगी, शब्दावली निर्माण-तलाश की नहीं। यदि पाश्चात्य शब्दावली ही हमारे लिए सब कुछ है, हमारी शब्दावली दुर्बल है, उनकी दृष्टि

पाश्चात्य में उलझी है और वे उसको लाने के लिए भागीरथी प्रयास की तरह मार्ग की तलाश में हैं—तब तो हमें भी सोचना होगा कि क्या हिन्दी शब्दावली इस स्थिति तक वस्तुतः पहुँच गई ? शब्दावली ग्रहण करना दोष नहीं है लेकिन अपने को नकार कर ऐसा करना दुखद है। तब क्यों हमें दावा करना चाहिए कि हिन्दी सर्वश्रेष्ठ सर्वसमर्थ भाषा है ? क्या हम यह मानें कि उसकी शब्दावली वर्तमान युगीन जटिलताओं और उलझावों-भावों तथा अर्थ-गम्भीरताओं को व्यंजित करने में समर्थ नहीं है। अच्छा हो कि हम भाषा की तालाश न करके अपनी भाषा की समृद्धता को पहचानने की चेष्टा करें।

वाल्मीकि की अनुभूति-दृष्टि सही थी। चोट भीतर लगी—अतः अनायास 'मा निषादः...' का प्रवाह फूट पड़ा। जिससे भारत का अधिकांश जनमानस आज भी स्निग्ध है। यह भाषा फूटी थी, गढ़ी नहीं गई थी। दुख-सुख की स्थितियों में भाव, भावों की मुद्रायें-चेष्टायें, और वाणी का रूप स्वयं बन जाता है, कोई बनाता नहीं। अतः यह कहना कि आज हमें अपनी भाव व्यंजनाओं के लिए नई भाषा की तलाश करनी चाहिए मूलतः उलटा प्रतीत होता है।

कहा जाता है कि जब जीवन की स्थितियाँ, युग की प्रवृत्तियाँ और चिन्तन की दिशायें बदल जाती हैं तो इन परिवर्तनों का सबसे प्रथम प्रभाव भाषा पर पड़ता है। यदि भाषा का रूप बदल गया तो स्पष्ट हो जाता है कि जीवन स्थितियों में, चिन्तन दिशाओं में भी परिवर्तन आ गया है। परन्तु भाषा परिवर्तन अन्य परिवर्तनों के साथ अपने आप स्वाभाविक ढंग से होता चलता है, उसके लिए अलग से कुछ करने की जरूरत नहीं होती। यदि हमारी अनुभूति सच्ची है, चिन्तन की गहराई और अभिव्यक्ति का स्वरूप सामायिक है तो भाषा इनकी अनुचरी बनकर बदले रूप में प्रस्तुत होगी ही।

वाल्मीकि से लेकर आज तक की काव्यधारा में अनेक परिवर्तन हुए

जो तत्कालीन भाषा-रूपों से स्पष्ट है। समय-समय पर अनेक बातें उठाई गईं। परन्तु काव्य-व्यंजना के लिए भाषा की तलाश की बातें प्रायः नहीं सुनी गईं। इसके पूर्व इतना समर्थ काव्य न रहा हो—सो बात नहीं है। छायावाद की शब्दावली बिना तलाश के पूर्ववर्ती भाषा से अलग बनी। छायावाद से अलग प्रकार की भाषा नई कविता में है, जो बिना तलाश के ही प्रगट-प्रयुक्त हुई। अतः स्पष्ट है कि भाषा का परिवर्तन व्यक्ति की सहज स्वाभाविक चिन्तन धारा का प्रतिफल है, किसी अलग प्रयास का नहीं। यह कार्य नारे-बाजी से नहीं, नुस्खा बताने से नहीं—सही सामयिक चिन्तन-सामर्थ्य के आने पर स्वयं सम्पन्न होगा। यदि हम तलाशने की बात करते हैं तो वह हमारी कमजोरी होगी, किसी अन्य तथ्य का अभाव नहीं। क्योंकि भाव और विचार उसे अपने आप अपने अनुकूल ढाले लेते हैं। शर्त यही है कि साहित्यकार में साहित्यिक सामर्थ्य और देखने की सही दृष्टि के साथ ही कलम की कुशलता हो।

●

मूल्यों का बिखराव और पीढ़ी का दायित्व

●

●

आज विश्व-स्थिति पर दृष्टिपात करने और स्वयं के जीवन एवं व्यक्तित्व के आन्तरिक पक्षों (बाह्य भी) को देखने से मन में एक विचित्र प्रकार का अनुभव होता है कुछ तिक्त और कसैला सा। पहिले लोगों के मन में जीवन-जगत, अतीत-वर्तमान-भविष्य के प्रति एक विशेष प्रकार का मोह था, (उसे आज अंध-आशा की आधारहीन संज्ञा दी जाती है), परन्तु इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि लोगों में आस्था और विश्वास की गहरी रेखाएँ थी। तब लोगों की दृष्टि अन्तर्राष्ट्रीय भले ही न बन पाई हो—परन्तु आपसी प्रेम और मानवता—स्थापना की निष्क-लुष भावना घनी अवश्य थी।

आज मानव अपने स्थिति-जाल में इस तरह उलझ गया है कि उसे आंतरिक और बाह्य दोनों ही रूपों में बड़ी वेदना होती है। उससे छुटकारा पाने का उसका हर प्रयास उसे उलझाता जाता है। इसीलिए उसकी सक्रियता नष्ट होती जा रही है। यह प्रभाव वाणी और कर्म दोनों ही क्षेत्रों में है। उसकी उदात्तता, उसकी व्यापक अनुभूति, उसकी

सूक्ष्म दृष्टि सभी विषम प्रभाव डालती हैं। एक ओर परिस्थितियों ने व्यक्ति को दुर्बल बना दिया है, दूसरी ओर बाहरी स्वार्थ—स्वरूपों ने ऐसा जाल बिछाया कि व्यक्ति को सिवाय अपने तक सीमित रहने के और कोई मार्ग दृष्टिगोचर नहीं होता। परिणाम स्वरूप वह अतीत-वर्तमान-भविष्य, आदर्श-अध्यात्म और सिद्धान्त आदि की बातों से अन-जाने ही उदासीन होकर कटता जाता है। इसे दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि प्रबुद्ध कहा जाने वाला आज का मानव निर्बल और असाह-सिक है कि वह संघर्ष से दूर भागने की चेष्टा करता है और अपनी इस बच जाने की पलायन वृत्ति को साहसिकता और सचेष्टता के आवरण में ढक लेने का असफल प्रयास कर रहा है। इन नवोदित विवशताओं ने व्यक्ति को विद्रोही, परम्पराभंजक, भयातुर और अनास्थावादी बनने में एक हद तक प्रभावित किया है। परिणाम स्वरूप हममें बच निकलने की चौर्यकला-प्रवृत्ति प्रमुखता से घर करती जा रही है।

युग की प्रतिगामी और प्रतियोगी गति ने शिक्षित संवेदनशील चिन्तकों में यह भी भावना भर दी है कि यदि ससम्मान जीवित रहना है तो 'वह' दिखाने का प्रयास करना होगा जो आप में वस्तुतः नहीं है। इसीलिए जीवन कृत्रिम और नाटकीय बनता जा रहा है। इसका सर्वाधिक प्रभाव कहानी विशेषकर काव्य क्षेत्र में परिलक्षित होता है। उसमें सहजता कम परिस्थिति-प्रसूत कृत्रिमता अधिक है। इसी कृत्रिमता और नाटकीयता ने व्यक्ति-व्यक्ति में अविश्वास और प्रतियोगी भावना को पनपाया है। अब हमने उस ग्लास के चश्मों को आँखों में चढ़ा लिया है जो कल तक हेय समझे जाते रहे हैं। आज यद्यपि मानवता आदि की बातें खोखली और पुरानी कही जाने लगी है—परन्तु हमें यह भी देखना होगा कि जीवन-जगत की यथार्थ-भूमियों से अलग रहकर—कटकर कब तक यह नाट-कीय जीवन जिया जा सकता है ?

यद्यपि यह सही है कि परिस्थितियों ने उन बातों का अधिकांश स्वरूप

बदल दिया है जो अभी तक जीवन व्यापी थीं। इन्हीं दो मूल्यों को परि-वर्तित संज्ञा के रूप में ग्रहण किया जा रहा है। आज जीवन के दो पहलू स्पष्ट हैं—(१) वह जीवन जो परिवार शिक्षालय, और पूर्व-पीढ़ी की वाणियों द्वारा सिखाया जाता है। (२) वह जो आज की कठोर भूमि में लिया जा रहा है। इन्हीं द्वैत रूपों ने युवकों को आक्रामक, उग्र और 'रिवेंजफुल' बना दिया है। वे एक रूप स्थापना के लिए हर प्रकार का बलिदान करने को उद्यत और प्रस्तुत हैं। एक रूप स्थापना अनुचित संकल्प नहीं है। इसके सुखद परिणाम निकल सकते हैं। परन्तु गंभीरता से यह विचारणीय है कि क्या इसके लिए सही दिशा में प्रयास किये जा रहे हैं ? संभवत: यहीं नवयुग पीढ़ी की कमजोरी है। इसका उत्तर उनके पास या तो नहीं है यदि है तो निषेधात्मक दिशा का। लगता है कि पूरी पीढ़ी भटकी और अनुभवहीन है। अपरम्परावादी, अवमूल्यनवादी प्रवृत्ति के कारण उन्हें पूर्व पीढ़ी की बातें पुरानी, भोंडी और कड़वी लगती है। वे अपना मार्ग स्वयं बनाने के प्रयास में अनदेखी दिशाओं की ओर अंधेरे में बढ़ रहे हैं। इसलिए उन्हें दोनों ओर के तीखेपन का अनुभव और सामना करना पड़ रहा है। पीढ़ी का त्रस्त (?) युवक निराश-हताश होकर अपनी थकावट किन्हीं वर्जित विकृतियों की छाया में उतारकर सुख-लाभ करने की आकांक्षा करता है। उसने यह मान लिया है कि आज सांसारिक जीवन में न तो कहीं पवित्रता है और न ही ईमानदारी। आदर्श-संस्कृति-परम्परायें सब ढोंग हैं। अत: सुख-लाभ की उपेक्षा क्यों की जाय ? क्योंकि यही यथार्थ है। स्वभावत: हेय पक्ष का उद्घाटन ही उनकी साहसिकता बन गयी है। इन्ही परिवर्तित स्थितियों को वे बिखरते और टूटते मूल्यों की संज्ञा देते हैं।

उनकी मान्यता है जब व्यक्ति—व्यक्ति के बीच में अलगाव की दीवारें खड़ी हो गई हैं—तब फिर प्रेम सद्भाव की बातों का क्या मूल्य है। आज सारा संसार बिखराव की घाटी पर है। पुराने मूल्यों की बातें हवा

की बातें हैं। यदि कोई दीवारें गिराना भी चाहे तो वह अकेले और उपेक्षित ही होगा। त्रस्त मानव को दार्शनिकता की बातें निरर्थक प्रतीत होती हैं—'हम दार्शनिकता का ढोंग रचते हैं, 'आदम का बच्चा यहाँ हैवान है'—तब किन मूल्यों का सहारा लिया जाय ? धर्म-शिक्षा-संस्कृति सभी सतही धरातलों पर पड़े हैं। तभी तो यह पीढ़ी लीक से हटने को विवश हुई—'मैं शक्ति का प्रतिरूप सिद्धान्तों की जर्जर दीवारों पर खड़ा हूँ, अधर्मी अब धर्मराज हैं—पूजित हैं। अत: अनचाही स्थितियों में जीने को विवश, अनजानी राहों पर चलने को उद्यत यह पीढ़ी, स्वभावत: मूल्यों का मर्दन कर, सिद्धान्तों-मान्यताओं को रौंदती हुई अनसमझी-अनबूझी दिशाओं की ओर बढ़ती चली जा रही है। स्पष्ट है कि ये दिशायें गलत हैं, इनसे फिर लौटना होगा। क्योंकि पलायन प्रवृत्ति से जीवन के नवमार्गों का निर्माण नहीं होता। विकृति-चित्रण से सौंदर्य-छटा विकसित नहीं होती।

आज की अकविता पीढ़ी का यही लक्ष्य है कि जब दीवारें बन गयीं, मान्यताएँ ध्वस्त हो गयीं, आदर्श-धर्म संस्कृति कुरूप हो चुके, न्याय और शिक्षा के मन्दिर स्वार्थ और अज्ञानता के कुहासे से भर गए—तब क्यों न विकृतियों का सर्व-सुख लूटकर यथार्थ जगत के व्यवहारिक रूप के नाम पर किसी पक्ष का भी प्रस्तुतीकरण किया जाय। लेकिन भारत में रहकर योरोप का निर्माण असंभव है। दीवारें पलायन से नहीं, संघर्ष से टूटेंगी। अन्य पक्षों का समाधान लोगों को सौन्दर्य पक्ष से परिचित कराने से होगा, असौंदर्य-उद्घाटन से होगा।

नये मूल्यों, मान्यताओं की स्थापना से ही नयी दिशायें और मार्ग बनाये जा सकेंगे। साहसिकता इनके निर्माण में है, गाली-गलौज और आपसी कटाव में नहीं। यदि गांधी जी का यह सिद्धान्त कि एक गाल पर चाँटा मारने वाले को दूसरा गाल दिखाना जरूरी है—आपको निराधार और अयुगीन प्रतीत हो रहा है—तो कोई और मार्ग खोजने से ही

समस्या हल होगी । भागने से तो मारनेवाला पीछा करेगा और कायरता की कमजोरी समझकर अधिक पीटेगा । परिणाम यह होगा कि जहाँ दूसरा गाल दिखाने से समस्या हल होनी थी वहाँ भीषण मार पड़ने की संभावना है । पलायन के द्वारा किसी कन्दरा में घुसकर अपने आगे गाली बकना न तो पराक्रम का प्रमाण है, न साहसिकता । यह कहकर भी नहीं बचा जा सकता कि हमें वहाँ मार पड़ती थी—इसलिए यहाँ निश्चित हैं, किसी से कुछ देना-लेना नहीं है । यह कायरता और दुर्बलता है ।

अकवितावादियों को इसी दिशा—भूमिका पर विचार करना है । यदि मूल्य टूट गये, बदल गये—तो नए मूल्यों का निर्माण किया जाना चाहिए । देश खाद्यान्न के अभाव से पीड़ित है, अत: 'खाद्यान्न की पैदावार बढ़ाओ' यह केवल वाणी की क्रीड़ा से संभव नहीं—वहाँ क्रिया की आवश्यकता है । कोसने या रोने की बात नहीं । अत: युग जीवन से सम्पृक्त रहकर दिशा दर्शन करना श्रेयस्कर है । कृत्रिमता-नाटकीयता और पलायनवादिता की जगह संघर्ष और नव-निर्माण की स्थापना हो ।

प्राय: देखा जाता है कि समाज के डरे-दुबके अकवि कंदराओं में त्रिकोण मन्दिर (?) की पुजा प्रार्थना में ही सारी शक्ति खो रहे हैं क्योंकि उनके लिए न मूल्य बचे हैं, न धर्म और मानवता की मान्यता । इस प्रवृत्ति को हम आदिम प्रवृत्ति कहेंगे । हमें आदिम स्थिति में नहीं जाना है । आगे बढ़ने के लिए पुरुषार्थ को जागृत करने की आवश्यकता है । तभी बिखरे और टूटे मूल्य नया रूप ग्रहण कर सकेंगे, मान्यताएँ सबल होंगी । अतीत नये रूप में भविष्य को सार्थकता प्रदान कर सकेगा । वर्तमान के प्रति प्रतिबद्धता स्थिर होगी ।

इसे तो सभी स्वीकार करते हैं कि मूल्य बदले, परम्परायें टूटीं, विकृतियाँ आईं । जहाँ तक इनके अनुभव करने-कराने की बात है—वहाँ चाहे नयी कविता वाले हों या अकविता वाले—किसी सीमा तक सही है । परन्तु प्रश्न यह है कि क्या केवल यही रूप शेष है ? क्या इनकी

अनुभूतियाँ वही हैं जो वे व्यक्त कर रहे हैं ? वे अपनी बुद्धि से अनुभूति का निर्माण करते हैं, उसे महसूस नहीं। 'निर्माण करना' और 'महसूस करना' में बड़ा अन्तर है। महसूस किया जाने वाला ही यथार्थ है, कराया जाने वाला नहीं। परन्तु आज तीव्रता निर्माण की है, अनुभूति की नहीं। जब निर्माण प्रधान हो जाता है तो काव्य नाटकीय और कृत्रिम बन जाता है। वहाँ शिल्प का या विचारों का बौद्धिक चमत्कार रहेगा, सहजता नहीं। अकवि सहजता की बातें करते हैं और प्रस्तुत करते हैं बुद्धि कौशल। हमें काव्य-भूमियों का निर्माण करना है, अनुभूतियों का नहीं। विकृतियों का भी चित्रण हो पर केवल विकृतियों का ही नहीं। विकृतियाँ भी हैं— परन्तु विकृतियाँ ही नहीं है। हम इन्हीं के बीच से नए मूल्यों एवं जीवन मार्गों के निर्माण के लिए काव्य के द्वारा एक स्थायी योग देने का प्रयास करें। यही कविसिद्धि होगी।

●

अधुनातन संदर्भ : सार्थक घोषणायें—निरर्थक विवशतायें

•

•

नवलेखन की समस्यायें जिन्हें लोग अब युवा-लेखन की समस्यायें भी कहने लगे हैं, प्रगति सूचक स्वीकार की जा सकती हैं। वर्तमान के प्रति असंतोष और परिवर्तन की छटपटाहट के साथ पुराने के स्थान पर नये की स्थापना मानव उपलब्धि का नवीनतम सोपान माना जाता है। किन्तु वह अन्तिम नहीं, बल्कि सदैव प्रारंभिक ही रहता है। क्योंकि परिवर्तन का चक्र अनवरत गतिमान प्रवृत्ति है। इन अनंत प्रवृत्तियों को दुखद नहीं, सुखद रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिये। जीवन-स्थितियां, स्वरूपों का परिवर्तन मानव की नवीनतम उपलब्धियों और नयी सभ्यता के साथ नवीनता के आग्रहों का सुफल है। यह नवीनता कभी साहित्य से ग्रहण करती है, कभी साहित्य को देती है। प्रभावित होती है, प्रभावित करती है। यह नवीनता जब पुराने की जड़ें खोदकर नया स्थान बनाती है तो अतिवादिता की शिकार बनती है; जब पुराने को नया रूप प्रदान करती है तो समसामयिकता बोध का परिचय देती है। विनाश और परिवर्तन की भावनाओं में निर्माणात्मक पक्ष का अन्तर है। पुराने को नये के

अनुकूल बना देने का अर्थ केवल बाह्य-विधानों का बहुरूपियापन नहीं, बल्कि उसकी आन्तरिकता के परिवर्तनों से भी है। समसामयिक नवीन परिवर्तनों की पकड़ और उसको दिशा देने की सामर्थ्य कोई खेल नहीं है। मिट्टी की पहचान मिट्टी का उपभोग करने वालों, उसके गुण दोषों की परख उसके बीच रहकर कमाने वालों को ही व्यावहारिक रूप से अधिक हो सकती है जो उसके निकट रहकर उसी से सामग्री प्राप्त करते हैं। जीवन स्थितियों, चिन्तन-दिशाओं को समझकर भावी मानदंडों और स्वीकृतियों का आभास पाकर पूर्व-स्थापना सबके बूते की बात नहीं है। जिसने जीवन के तलस्पर्शी तथ्यों को प्रत्यक्ष आत्मसात कर सुख-दुखात्मक संघर्षों के खट्टे-मीठे घूँटों को नीलकंठ की तरह धारण करने की क्षमता प्राप्त कर ली थी उसी को युग साहित्यकार अथवा युग-जीवन से सम्बद्ध पक्षों को नए रूप में प्रभावित कर पाने का सामर्थ्य प्राप्त हुआ था। आज जीवन के गहरे पक्षों को अस्वीकार कर हम साहित्य-क्षेत्र में नई समस्याओं को जन्म देने के भागीदार बनते हैं। लेकिन अन्तर अपनी जगह है। पूर्ववर्ती साहित्यकार (छायावादी प्रकार के कवियों को छोड़कर) जीवन-संघर्षों का प्रत्यक्ष असर सहकर समस्याओं से जूझता हुआ उन्हें नया रूप देने में सफल होता था। परिणामतः समस्या सुलझाव का रूप ग्रहण करती हुई स्थिरता की ओर उन्मुख होने लगती थी। आज हम समस्याओं के साथ समस्याओं का भ्रमजाल बुनते चले जा रहे हैं। समस्याओं का मुकाबला करने की सामर्थ्य न होने पर भी हम अपने चारों ओर समस्याओं का घेरा बनाकर चिल्ला-चिल्लाकर लोगों को यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि हम अभिमन्यु की तरह उनके चक्रव्यूह में घिरे छटपटाते हुए भी अपने लक्ष्य की ओर प्रयत्नशील हैं—शायद गतिशील भी समस्याओं के भ्रमजाल के इस ताने-बाने में आज का कवि (युवा अथवा नया) अपनी संकल्प परायणता के प्रदर्शन में स्वयं तो कई बार हास्यास्पद बनता ही है, वह सहानुभूति प्राप्त करने में भी असफल हो जाता है, जिसकी वह भीतर से

अप्रत्यक्ष अपेक्षा करता है। आंतरिक अनुभूति-शून्यता के खोखलेपन को शोरशराबे और प्रदर्शन की मुश्किलों से लबालब भरा बता देने की नाटकीय चेष्टा में सृजन का सकारात्मक पक्ष पीछे हो जाता है। मैं यह मान कर चलता हूँ कि जीवन स्वरूप बहुत बदले हैं, जीवन कष्ट बढ़े हैं, पुरानी मान्यताएँ खोखली हो रही हैं, आदर्श और सिद्धान्त हास्यास्पद स्थिति में आकर लड़खड़ा रहे हैं, दृष्टिकोण व्यापक बना है। लेकिन इस सबको नया कवि कितनी दूर तक भोग रहा है, भोगकर कितनी सफलता से प्रस्तुत कर रहा है, उसकी सम्पूर्ण परिवेश के साथ कितनी आत्मीयता है, ग्रहण करने की चिन्तन-गंभीरता कितनी है—आदि बातें उनकी रचनायें स्वयं प्रस्तुत करती हैं। तभी पाठक को कई बार प्रश्न-चिन्ह लगाने पड़ते हैं। क्यों ? इस क्यों का उत्तर ही यह कुछ तथ्य हो सकते हैं। सृजनात्मकता की जगह विध्वंसात्मक स्वभाव स्थान बनाता है। क्यों कि स्वयं न दे सकने वाला जब दूसरों को अस्वीकार कर अपने को छोटा न बनने देने के लिए सचेष्ट होता है तब उसके सामने एक ही चारा है कि वह दूसरों की उपलब्धियों को नष्ट करे अथवा निरर्थक और असामयिक घोषिय करे। दोहरी विसंगतियों में जीने वाला रचनाकार समाज की दोहरी स्थितियों को भी देखता है। समाज-व्यवस्थाओं के लिखित स्वरूप, उनकी नयी व्याख्यायें और सुविधानुसार उनसे हटकर जीने की कलायें नयी-नयी समस्याओं और विसंगतियों की जन्म-दात्री बन गई हैं। सामाजिक और बाह्य द्विधात्मक स्वरूप, रचनाकार की द्विधात्मक स्थितियाँ एक दूसरे के समानान्तर आकर समस्याओं का जाल बुनती हैं। ऐसी स्थिति में समस्यायें गिनाना और बनाना ही आधुनिकता का पर्याय बनता जा रहा है और सुलझाव या समाधान पुरातन शब्दकोण के शब्द मात्र हो गए हैं—यह सब समझौता के पर्याय करार दिये गये हैं।

मैं नवलेखन क्षेत्र की सभी समस्याओं का स्पर्श न कर केवल कुछ बहुचर्चित पक्ष की तात्विक विवेचना और कारण-गंभीरता पर विचार

करना चाहूँगा। आज लेखन क्षेत्र में अस्वीकार और आक्रोश दोनों बहु-प्रचलित शब्द हैं। मुझे लगता है कि अस्वीकार कहीं न कहीं स्वयं के पुरुषार्थ को चुनौती देता है जबकि आक्रोश सामाजिक अथवा स्थापित व्यवस्था के पुरुषार्थ को। स्वयं के पुरुषार्थ की अक्षमता अस्वीकार की जन्म-दात्री बनती है जबकि व्यवस्थाओं के पुरुषार्थ को चुनौती देने की भावना आक्रोश को जन्म देने के साथ स्वयं के पुरुषार्थ को बलिष्ठ बता कर अपने को संघर्ष और जूझने के लिए तत्पर बताती है। आक्रोश या गुस्सा भी कई प्रकार का होता है। अपने पर गुस्सा, दूसरों पर गुस्सा। एक तो बालोचित आक्रोश भरा गुस्सा है जो केवल दूसरों को चिढ़ाकर अपनी खीझ निकालता है। यह मुद्रात्मक आक्रोश भी अपनी विवशता में सामने वाले की सक्षमता अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर लेता है। यह चिढ़ाकर धीरे से गाली बककर भाग जाने की मुद्रात्मक स्थिति ही साहित्य में ज्यादा व्यक्त होती जान पड़ती है। यदि सामने वाला भी चिढ़ाने या डांटने लगे तो बालक रोने लगता है। यह रोने की मुद्रा कवि-रचनाओं में दिखाई पड़ती है। दूसरी आक्रोश की स्थिति वह है जिसे व्यक्ति स्वयं पीता है। क्रोध को पीना सबल क्रान्ति भावना का प्रमाण नहीं है। यह तो क्रोध की आत्म-रति वाली स्थिति है जिसमें कहीं न कहीं या तो कोई लिहाज है अथवा विवशता। हम अपने हाथ मींजकर, दाँत किटकिटाकर ही अपनी जिम्मेदारियों से मुक्त नहीं हो सकते। अपने परिवेश, परिवार से समझौता कर चलने वाला दूसरों पर आक्रोश कैसे व्यक्त करेगा? बेईमान बाप का बेटा पिता द्वारा लाये गए घूँस के पैसे से काफी हाउस में गुलछर्रें उड़ाये और दूसरों से कहे कि समाज बेईमान है, घूस लेना बुरी बात है। वह अपने पिता और परिवार से विद्रोह कर उस स्थिति का प्रत्यक्ष अनुभव करे, तब संभवतः उसकी अनुभूति सप्राण होकर बोल सकेगी। यह द्विधात्मक स्थिति है जहाँ परिवर्तन का स्वर कारगर सिद्ध नहीं हो पाता। इधर एक दो पत्रिकाओं में 'क्रोध' अथवा 'गुस्सा'

का औचित्य सिद्ध करने के लिये अनेक तर्क दिये गए हैं। 'गुस्सा' क्रियात्मिक होना चाहिये, आत्मस्थ नहीं। यह प्रगतिशील लोगों का गुस्सा नहीं, समझौतावादी लोगों का है। एक ओर डरते हैं कि क्रोध में जोर से मारने से कहीं सामने वाले को गंभीर रूप से चोट न लग जाय, इसलिए हाथ केवल हवा में उठकर रह जाता है। अथवा कहीं सामने वाला मुझ पर प्रहार कर परास्त न कर दे, परिणामत: आत्मविश्वास एवं स्वामान के अभाव में अपने आन्तरिक आक्रोश में स्वयं जलते हैं। आक्रोश की तीसरी स्थिति प्रहारात्मक क्रिया-सम्पन्न विशिष्ट है। यह क्रियात्मकता साहित्य में अभी विवेक सम्मत ढंग से पूरी तौर से नहीं उभर पाई। इसी लिए प्रभाव का अभाव है। क्रियात्मकता का अर्थ है प्रभावपूर्णता। आवेश में विवेक-सजगता के लिए चिन्तन, त्याग, सहन-शीलता और प्रदान की जो क्षमता होनी चाहिये उसका नितान्त अभाव है। यह आक्रोश कई बार अज्ञानी-स्वार्थियों का आवेश बनकर रह जाता है। क्रोध जब ज्ञान-नाशक स्थिति में पहुँच जाता है तब निश्चित ही दुखद होता है। सबसे बड़ी आश्चर्य की बात यह है कि प्राय: हर स्थिति में क्रोध की अभिव्यक्ति परात्मक होती है। परात्मक से आशय यह है कि रचनाकार दूसरों को व्यवस्था न तोड़ पाने के लिए दोष देता है। तोड़ने का उपदेश देता है, स्वयं घेरों में घिरा रहता है। जाति व्यवस्था का दोष देने वाले स्वयं कमर में दहेज बाँधकर स्वजाति में वर की तलाश के लिए दर-दर की ठोकरें खाते हैं। क्या यही विवशता रचनाओं में नहीं है? स्वानुभूति और परानुभूति का अन्तर रचना के लिए महत्वपूर्ण तथ्य है। लोगों का यह तर्क कि मृत्यु की अनुभूति के लिए मरना जरूरी नहीं है। किन्तु क्या मृत्यु की अनुभूति के लिए आत्मीय संवेदनात्मकता भी अनावश्यक है। आत्मीयता से देखा तो हो। यह भी एक विसंगति है। अपनी कमजोरी छिपाने के लिये केवल क्रोध अस्त्र नहीं बन सकता। नकार, अस्वीकार फटकार और बौछार जैसी भावनाएँ क्रोध के विभिन्न स्तरों की मापक

कही जा सकती हैं जो ऊपर उल्लिखित स्थितियों से स्पष्ट है।

आज साहित्य में सिद्धान्तों की बातें बहुत की जाने लगी हैं। सिद्धांत चर्चा में जितनी असैद्धान्तिक घटनाएँ अब हो रही हैं पहिले शायद कभी न हुई हों। आज तो स्वार्थ ही सिद्धान्त है। राजनीतिक दल-बदल साहित्य में भी कम नहीं है। जहाँ अवसर मिला वहीं दो पैंतरों का प्रदर्शन कर लोगों को आकर्षित करने का कमाल दिखा दिया। एक सचेतन कहानीकार से मैंने एक बार कहा था कि उनका अमुक कहानी-संग्रह बहुत ही सस्ता और सेक्स-चित्रणों की प्रधानता से युक्त है; अन्य अनेक बातें हैं जो सचेतन-आन्दोलन के अनुरूप नहीं हैं। उन्होंने मुझे समझाया था कि पाठक बहुत भोला होता है, उसे कुछ याद नहीं रहता। मुझे पैसा और प्रकाशन की आवश्यकता है अतः ऐसी कहानी लिखी। अभी तो बहुत जिन्दगी पड़ी है, बाद में सैद्धान्तिक प्रकार की गम्भीर कहानियों से पाठकों को आकर्षित कर लूँगा। क्या वस्तुतः आज पाठक को इतना मूर्ख और भोला मानकर केवल भरमाने और बरगलाने की ही चेष्टा की जा रही है। इस पर गम्भीरता से विचार करना होगा। पुरानी स्थापनाओं के अनुपयोगी पक्षों को अलग करने की चेष्टा तो हो ताकि नवीनता आ सके, किन्तु यह भी देखें कि स्थापित-सिद्धान्तों का विरोध किन नए सिद्धान्तों की स्थापना में सहयोगी सिद्ध हो रहा है। वह केवल शाब्दिक और प्रचारात्मक तो नहीं है। पाठक को धोखा देने वाला साहित्यकार अपने को भी धोखा देता है।

इस सिद्धान्त-चर्चा के सन्दर्भ में मुझे व्यावसायिकता की भी बात कहनी है। व्यावसायिकता और अव्यावसायिकता की नारेबाजी भी इस समय जोरों पर है। क्या इस विवाद में वस्तुतः सैद्धान्तिक पक्ष है? 'लिटिल मैगजीन्स' और 'सेठाश्रयी मैगजीन्स' इसी का विवाद है। मुझे लगता है कि इसमें दो प्रकार की बातें हैं। एक तो वे जो ईमानदारी से उन लोगों से संचालन-सूत्र वापस लेना चाहते हैं जिन्होंने अपनी पूर्व-

प्राप्तियों के बल पर सेठाश्रय में वर्षा स्वयं न लिखकर भी केवल अर्थ-सम्पन्न पत्रिकाओं के सम्पादन के बल पर साहित्य को दिशा देने का श्रेय ले रहे हैं, जबकि वे वस्तुत: इसके अधिकारी नहीं हैं। बहु-प्रचारित सेठा-श्रेयी अर्थ-सम्बल पत्रिका में साधारण रचना छापकर भी महत्वपूर्ण घेरे में 'फिट' की जाती हैं। पैसे के लिए सभी ललकते हैं। अर्थ-प्रधान युग में इसे कोई ईमानदारी से अस्वीकार नहीं कर सकता है। सभी उनमें छपना चाहते हैं। व्यावसायिक पत्रिकाओं का विरोध करने वाले एक सहयोगी की रचना मैंने पिछले 'धर्मयुग' में सचित्र छपी देखी है। कम प्रचारित 'लिटिल मैगजीन्स' की महत्वपूर्ण रचना का मूल्यांकन नहीं हो पाता। नि:संदेह साहित्य-दिशा के विकास और संवर्धन में इन 'लिटिल मेगजीन्स' और उन सिद्धान्तवादी-सम्पादकों, लेखकों के योगदान की उपेक्षा करना बहुत बड़ी कृतघ्नता होगी। परन्तु सैद्धान्तिकता पर प्रश्न-चिन्ह उस समय लगता है जब कुछ लोग अवसर पाकर सबको बलाये ताक रखते हुए केवल अपना उल्लू सीधा करते हैं। अत: आपसी विश्वास और निश्चिन्तता समाप्त होकर अनिश्चिय और मौकापरस्ती का 'लेबल' लगा दिया जाता है। क्या इसे अस्वीकार किया जायेगा कि पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी पत्रिकाओं की जो बाढ़ आई थी, उसमें बहुत से सम्पादक अपने को स्था-पित करने और बड़ी पत्रिकाओं में छपकर चर्चित होने के लिए बेताब थे। यदि पत्रिकाओं को उठाकर देखा जाय तो दो तीन वर्षों तक कई सम्पादक सम्पादकों का ही प्रकाशित-चर्चित करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ते थे। क्योंकि हर सम्पादक लेखक था, हर लेखक सम्पादक बन रहा था अथवा किसी पत्रिका से सम्बद्ध था। बड़ी पत्रिकाओं में छपकर बहुत से अपने को धन्य भी समझने लगे और उनके गले बन्द हो गए। आखिर हमारे सिद्धान्तों और आक्रोशों की पृष्ठभूमि और आधार-भूमि क्या होनी चाहिए। श्री रमेश बक्षी 'ज्ञानोदय' के सम्पादक रहे। उनका भी एक लेखक-संसार था, एक दृष्टिकोण था। खूब सम्मान लिया,

खूब सम्मान दिया। उस समय उन्हें व्यावसायिक पत्रिकाओं में कोई दोष दिखाई नहीं पड़ा। लेकिन किन्हीं कारणों से 'ज्ञानोदय' से अलग होने पर उन्हें लगा कि अब तो कोई चर्चा नहीं करता। साहित्यकार हैं—कुछ करना चाहिए। 'आवेश' निकाला। उस 'आवेश' में जो बातें प्रकाशित हुईं उनमें आवेश, आक्रोश, खीझ, क्रोध के अनेक रूप देखे जा सकते हैं। व्यावसायिकता-अव्यावसायिकता, 'लिटिल मैगजीन्स' आदि के सारे सिद्धान्त सबल हैं। सभी की सहानुभूति 'लिटिलों' के साथ है। परिणामतः आवेश-आवेश में युवालेखकों का किताबी समारोह और 'लिटिल मैगजीन्स' की प्रदर्शनी भी आयोजित की गई। नव लेखन से सम्बन्धित अनेक संकल्प लिए गए। चर्चाएँ हुईं। व्यावसायिकता के विरुद्ध प्रतिज्ञायें सुनने को मिलीं। इधर चर्चा सुनने को मिली कि उस समारोह के संयोजक बंधु श्री बक्षी जी आजकल फिर किसी बड़ी पत्रिका से सम्बन्धित हो गए हैं। दिल्ली में एकत्र हुए युवालेखन बिल्लाधारी अनेक लोग दुखी हैं। उस समारोह के 'दिल्ली रिटर्न' एक युवालेखक से उस दिन भेंट हुई। उन्होंने बड़े दुख और फिर आक्रोश के साथ गाली बकते हुए कहा कि सब दगाबाज हैं। देखिये न, रमेश बक्षी फिर एक बड़ी पत्रिका में चले गए। यदि यह सच है तो एक झंडे के नीचे एकत्र होने वाले उन युवा लेखकों का दुख व्यक्त करना स्वाभाविक ही है।

व्यावसायिक पत्रिकाओं के विरुद्ध जेहाद छोड़ने वाले एक 'दिल्ली रिटर्न' ने बड़े गर्व से बताया, डाक्टर साहब आपको जानकर प्रसन्नता होगी कि इधर मेरी कहानियाँ 'सारिका, धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में आ रही हैं। (अब तक शायद आ भी चुकी हैं)। मुझे लगा कि अपनी बराबरी की पत्रिकाओं में छपकर यह इतना प्रसन्न शायद कभी नहीं हुआ होगा जितना आज। मैंने कहा कि 'क्या अब भी उन पत्रिकाओं का विरोध करोगे ?' उसने कहा वह एकदम दूसरी बात है। लेकिन मैं नहीं समझ सका कि 'दूसरी बात और कौन-सी है ? इस प्रकार की अव-

सरपरस्ती सैद्धान्तिकता यदि अविश्वास के वातावरण का कारण बने तो निश्चित ही उसके लिए दोषी अपने को युवालेखन कहने वाले ऐसे कुछ सम्पादक और लेखक भी हैं। निष्क्रिय व्यावसायिक सम्पादकों से साहित्य-दिशा देने का सूत्र तो छीना जाय। उन्हें स्वीकार कराया जाय कि वे भी लेखक थे, किन्तु अब निष्क्रिय हैं। इसलिए वे दिशा देने की बात नहीं कर सकते। लेकिन यह सही, समर्थ और समझदार सक्रिय लोगों के हाथों में जाने पर ही सार्थक होगा। फिर अवसर-परस्ती नहीं होनी चाहिए। आखिर हम किसी सिद्धान्त के प्रति तो ईमानदार हों। 'कृति परिचय' के सम्पादक और उनके कुछ सहयोगी निश्चित ही बड़ी बुलन्दी से संघर्ष कर रहे हैं। उन्हें सहयोगी संबल की आवश्यकता है।

आज काव्य और कथा-साहित्य में यौन-चित्रण की बड़ी प्रमुखता है। इसके औचित्य-अनौचित्य पर वर्षों कभी न समाप्त होने वाली बहसें चलीं। आज भी तथ्य जहाँ के तहाँ हैं। जीवन के प्रमुख तथ्य यौन-भावना के चित्रण का विरोध करना निश्चित ही अति की सीमा है। आज तो यौन-विज्ञान को पाठ्यक्रमों में सम्मिलित करने की बात की जा रही है, तब साहित्य में उसकी अवहेलना करना जीवन के प्रमुख एवं महत्व-पूर्ण पक्ष को नकारना होगा। लेकिन देखना है कि उसके पीछे निहित भाव, लक्ष्य और अभिव्यक्ति अथवा प्रस्तुतीकरण की कला किस स्तर की है। मेडिकल कालेज की कक्षाओं में छात्र-छात्राओं को सम्मिलित रूप से सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप से यह सब पढ़ाया जाता है किन्तु उस समय किसी के मन में कोई विकृति नहीं आती। किसी अंग-विशेष का आपरेशन करते समय डाक्टर के बारे में अन्यथा सोचना सर्वथा गलत होगा। किन्तु क्या आज का लेखक इसका चित्रण इसी दृष्टि से करता है? वह अपने असंतोष की कुण्ठा ही व्यक्त करता है। लालसा की अभिव्यक्ति छायावादोत्तर युग के कुछ कवियों ने भी की थी, किन्तु सौंदर्य की उस लालसा में और आज की कामुक लालसा में निश्चित ही अन्तर

है। अकवि और अकहानीकारों ने जिस प्रकार उसे अपनाया है, वह उपेक्षा की वस्तु नहीं है। नारी से सम्बन्धित तथ्यों का इस प्रकार प्रकाशन-चित्रण मन में विकृतियाँ पैदा करता है, विराग नहीं। मर्यादाओं की वीभत्स उपेक्षा ही इसे कहा जावेगा। यह कहना कि अश्लीलता शब्दों में नहीं, पाठक के मन में होती है, यदि पाठक अश्लील चरित्रहीन होगा, तो उसे रचना में विकृति दिखेगी—यह केवल जबर्दस्ती है। रचना में जो होगा, उसकी प्रतिक्रिया पाठक में होगी। रचनाकार जिसे प्रेषित करना चाहता है पाठक उसी को ग्रहण करता है। रचना का चित्र पाठक के मानस पटल में उभरने वाला चित्र होगा। 'सिकुड़ूँ तो कहाँ तक सिकुड़ूँ। क्या मैं पड़ा रहूँ टाँगों की दराज में।' अथवा 'मैं भगवान श्री राम नहीं शिश्नवान श्री राम हूँ।' अथवा 'अकविता' पत्रिका के अनेक अंकों की दर्जनों रचनाएँ लक्ष्यार्थ भावों के बाद भी अभिधार्थ स्थिति में दुखद हैं। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ रचनाकार की मानस-विकृतियाँ, यौन-असंतोष, कुण्ठा और अपरिपक्व शिल्प के भाड़े उद्धरण मिलेंगे।

मैं तो इस प्रकार की उक्तियों को रचनाकार की असामर्थ्य-सम्पन्न निराशा एवं हीन-वृत्ति (इनफीरियारिटी काम्प्लेक्स) की प्रतिक्रिया मानता हूँ। जिस प्रकार एक साधनहीन मजदूर दिनभर में थका हारा लौटने के बाद जीवन-समाज के असन्तोषों और अपमान-घूँटों की खीझ उतारने के लिए दूसरों को चिड़चिड़ाकर गाली बकता है, अपनी पत्नी को पीटता है या उसके साथ सोकर अपनी थकान उतार कर सबसे कुछ देर के लिए निश्चिन्त हो जाता है। ऐसी ही कुछ स्थिति बहुत से रचनाकारों की भी है। अन्यथा नारी न केवल भोग की वस्तु है, न थूकने की। उसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ हैं जिसे समझना और स्वीकारना समझदारी की बात होगी।

इस सबका आशय यह नहीं कि युवालेखकों में केवल बुराइयाँ ही

हैं। निःसंदेह उनके अभिव्यक्ति प्रयास एवं शिल्प रूप में स्वीकारना साहित्य की प्राप्ति होगी। संक्षिप्तता में भी अर्थ-गांभीर्य एवं जीवन के लम्बे परिवेश को समेट लेने की क्षमता के साथ सामान्य लोगों द्वारा व्यवहृत शब्दावली में अपनी बात कहने की सहजता, सामाजिक अव्यवस्थाओं एवं अनुपयोगिताओं तथा मुखौटों को उघाड़ फेंकने की दरियादिली के लिए वे पूर्ववर्तियों से बहुत आगे हैं। किन्तु जब वे अपनी कमजोरियों की विवशता में अति-छोरों का स्पर्श करते हुए एक नया मुखौटा पहनने की असफल चेष्टा करते हैं तब उनकी उपलब्धि भी छोटी और अविश्वसनीय लगने लगती है। युवालेखकों ने जब आज के साहित्य को दिशा देने का बीड़ा उठाया है तब यह उनके ध्यान देने की बात है कि वे स्वयं किन्हीं कालिमाओं, प्रलोभनों और अतिवादिता के शिकार होकर होकर समाज की उपेक्षा न कर बैठें। स्रोत से अलग होने का अर्थ है समाप्ति। विश्वास है कि साहित्य युग के आस्थावान रचनाकारों की उँगली पकड़कर निरन्तर गतिशील रहेगा ही।

•

युवा आक्रोश : सन्दर्भ और तत्व

●

●

आज साहित्य क्षेत्र में कितनी ही चौंकाने वाली बातें सामने आ रही हैं। उनमें कितनी ईमानदारी और कितनी केवल फतवेबाजी है, यह एक शोध का विषय है। परन्तु उन चौंकाने वाली बातों में कुछ निःसंदेह विचारणीय अवश्य है। आस्था-अनास्था, दृष्टिहीनता, मूल्यहीनता, अलगाव, परम्परा-भंजन. संस्कारों की निर्जीवता, जटिलता ऐसी बातें हैं, जिन्हें केवल उपेक्षा करके तरह नहीं दिया जा सकता। वहाँ कुछ न कुछ सचाई अवश्य है। यदि सचाई है, तो उसके मूल कारणों को देखना होगा।

संसार में कोई भी प्राणी अनास्थावादी होकर जन्म नहीं लेता। वह जन्म-जात आस्थावान होता है, परन्तु संसार की विपरीत परिस्थितियाँ उसे वह सब करने-सोचने के लिए विवश कर देती हैं—जो वह आगे बन जाता है। किसी भी बालक के संस्कारों का निर्माण उसके परिवार के लोग करते हैं—वह जिज्ञासु होता है। प्रत्येक बात को तात्विक ढंग से समझना चाहता है। परिवारिक-संस्कारों के लिये वह शिक्षा क्षेत्र में जाकर अपने जीवन के लिये ज्ञानार्जन करता है। बालक जीवन की

सुनहली कल्पनाएँ, पारिवारिक-जीवन की मधुर आस्थायें, विद्यार्थी-जीवन की सैद्धांतिक मान्यताओं को लेकर जब अदम्य साहस, ईमानदार दृष्टि, निस्वार्थ सेवा भावना, उच्च मानव स्वरूप को लेकर संसार में प्रविष्ट होता है तो उसे दर-दर की ठोकरें खानी पड़ती हैं, उसे संसार का स्वरूप अब तक के जाने-बताये गये रूप से अलग प्रतीत होता है। उसकी मान्यताओं की दीवारें खिसकने लगती हैं, उसका व्यक्तित्व बिखरने लगता है, उसे आभास होता है कि इन भावनाओं के साथ शायद वह आगे न बढ़ सकेगा। वह स्तब्ध होकर कुछ क्षण खड़ा रह जाता है। उसकी समझ में ही नहीं आता कि उसे क्या करना चाहिये। इस स्तब्ध अवस्था में ही वह अतीत के अर्जित ज्ञान और विद्यमान जीवन की तुलना करने लगता है। उस विवेचना के क्षण में उसे यह बात भी स्वीकार करनी पड़ती है कि परिवार में जिन अवस्थाओं के लिए उसे प्रेरित किया गया था—वहाँ उन अवस्थाओं का पालन ठीक ढंग से नहीं हो रहा था। यथार्थ जीवन अलग था, बताया-दिखाया जाने वाला जीवन दूसरा था। शिक्षा जगत के सिद्धांत अत्यन्त उत्कृष्ट थे। लेकिन वे केवल पुस्तकों में थे पढ़कर-रटकर परीक्षा पास करने के लिए थे—उनका व्यवहारिक रूप दूसरा था। ऐसी अवस्था में संसार का दिखाया गया जीवन केवल पढ़-सुनकर भुला देने का है। उसका यथार्थ रूप दूसरा है, जहाँ उन आस्थाओं की लाश भर है—जीवन-स्वरूप नहीं, मान्यताओं की चिन्तायें हैं—प्राण नहीं। तब उसे भी अपनी सारी सैद्धांतिक मान्यताएँ, उच्च-आस्थायें छोड़ देनी पड़ती है। उसके प्रारम्भिक जीवन की सुनहली कल्पनाओं के दर्पण उसके हाथ से छिटककर चूर-चूर हो जाते हैं। उसमें जीवन-जगत के प्रति मन में कड़ुवाहट भर जाती है। जीवन विषैला प्रतीत होने लगता है। छल-छद्म की भावनायँ घर कर लेती हैं। ईर्ष्या और स्वार्थ बलवान हो जाते हैं।

युवक वर्ग समाज का सबसे शक्तिशाली प्राणवान वर्ग है। उसमें

क्रांतिकारी भावनायें, अगम्य बीहड़ों-जंगलों-पर्वतों को पार करने का अटूट साहस, समाज को पलट देने की विद्रोही-दृष्टि होती है। उसे लगता है कि वह नये युग के अनुसार समाज में उस रूप को स्थापित करेगा, जिसकी आज आवश्यकता है। उसे पुरानों से संघर्ष करना पड़ता है, अपनों को संगठित करने की आवश्यकता होती है, नयी व्यवस्था को ग्रहणशील और उपयोगी बनाने का प्रयास करना पड़ता है। उसके चारों ओर संघर्ष ही संघर्ष है। वह यह भी देखता है कि विकृत भावनाओं, विकृत स्वरूपों को लेकर भी पूर्व पीढ़ी डटी हुई है। वह पीढ़ी दूसरों को उपदेश देकर भी स्वयं सुधरने-बदलने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि उन्हें गद्दी छिन जाने का भय है। युवक को सर्वत्र असंतोष, अव्यवस्था, अशान्ति के दर्शन होते हैं। यह असंतोष केवल प्रौढ़ावस्था का ही असंतोष नहीं है। प्रारम्भ से ही उसकी पुष्टि होती है।

आज जीवन में कहीं भी पवित्रता नहीं है। कहीं भी अपनत्व और विश्वास नहीं है। कहीं भी सत्य-पालन की ईमानदारी नहीं है। इस वैज्ञानिक युग में जहाँ एक ओर जीवन-गति अत्यन्त तीव्र है वहीं अर्थ की प्रधानता के कारण चारित्रिक भ्रष्टता भी। आज के परिवारों में, जहाँ एक खून है, एक मांस है, सहयोग और एकता की भावना नहीं दिखाई देती। स्वार्थ की भावना और अर्थ की संकुचित विषमता ने जीवन दूभर कर दिया है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को बोझ, अविश्वासी और प्रतियोगी प्रतीत होता है। परिवार खंड-खंड हो रहे हैं। समाज के ऊँच-नीच के भाव, जाति-पाँति, दहेज-पाखंड, फैशन के रोग विकृत से विकृततर होते जा रहे हैं। धार्मिक क्षेत्र, जिसे हम सर्वाधिक पवित्र जानते थे, जिसे हम जीवन को सुफल बनाने का मन्दिर-पथ मान रहे थे, जहाँ आध्यात्मिक जीवन, अलौकिक संसार का ज्ञान कराकर उस अद्वितीय-चिरंतन शक्ति का आभास कराया जा रहा था—वहाँ भी विकृतियों का जाल है, ढोंग है। जब परिवारों के लोगों में स्नेह नहीं रहा तो फिर दूसरों के स्नेहल-

संबंधों की कल्पना ही व्यर्थ है। पिता-पुत्र का संबंध, पति-पत्नी का संबंध, भाई-भाई का संबंध केवल औपचारिकता मात्र रह गये हैं। बढ़ती मँहगाई और फैशन की माँगों को पूरी करने में परिवार का मुखिया दिन-रात लगा रहता है। उसे अपनी इज्जत बचाने की पड़ी रहती है। वह न तो संतान की व्यवस्था कर सकता है और न पत्नी तथा घर-गृहस्थी की माँगों की पूर्ति। अत: आपस की दूरी बढ़ती जाती है, मानवता का स्वरूप ही समाज से विलुप्त होता जा रहा है। शिक्षा के प्रसार ने जहाँ साक्षरता की वृद्धि की—वहीं अधिकारों की माँग की जाने लगी। जीवन की जटिलता में कर्तव्यों की उपेक्षा कर केवल अधिकारों की ही माँग बुलन्द हो सकी। बेकारी की भीषण मार ने जीवन को अपमानित किया, उसे दूभर बना दिया। जीवन का सारा उत्साह, सारी रंगीनी बेकारी के चंगुल में दर-दर की ठोकरें खाने में नष्ट हो गई। व्यक्ति दिनोदिन साधन-विहीन होता जा रहा है, समाज के ढकोसलों और जीवन के आडम्बरों में भीतर-ही-भीतर भयानक संघर्ष और आक्रोश है, जिसे बुजुर्ग व्यक्त नहीं कर पाते और युवक रोक नहीं पाते। अधिकांश अफ़सर आज भी अपने अधीन कर्मचारियों से ठीक व्यवहार करने में तौहीनी समझते हैं। वहाँ भी आपसी खींच-तान और संघर्ष है। असमर्थ अधीन कर्मचारी विवशता के कारण न तो नौकरी छोड़ पाता है—न साहब को जवाब देकर मुकाबला कर पाता है। ऐसी स्थिति में आंतरिक आक्रोश और तनाव बढ़ना स्वाभाविक ही है। इन सब स्थितियों में किसी भी युवक से आस्थावान होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती, न ही संभव है। विवश होकर प्रत्येक को समय की बयार के अनुकूल ढालना पड़ता है। क्योंकि आज का युवक आत्महत्या में नहीं, संघर्ष में, जीने में विश्वास करता है।

स्वतन्त्रता के बाद के भारत में जिस बात की चाह और कल्पनाएँ थीं वे अधिक दिनों तक टिकी न रह सकीं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से जहाँ संतोष, शांति, स्वाभिमान की भावना बलवान बनी थी, वहीं बाद की

घटनाओं और समाज की स्थितियों ने उन्हें कमजोर बना दिया। आज के भारत में उसके सारे आदर्श झूठे पड़ गये हैं। जब ऐसी स्थिति आ जाये, तो समाज के सबसे जागरूक वर्ग युवकों पर उसका सर्वाधिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। उसकी मानसिक नसें तनने लगती हैं, खून खौलने लगता है। कभी उसे अपने पर क्रोध आता है, कभी मान्यताओं और व्यवस्थापकों पर आक्रोश।

कवि इसी समाज का सबसे कोमल तन्तुओं से बना संवेदनशील कलाकार है। जरा सा आघात और दूर का प्र तघात उसे झकोर देता है। उसकी भावना व्यक्त होने को तिलमिला जाती है। युवक कवि का आक्रोश तो और भी बढ़ जाता है। इसीलिए नये कवियों में हमें आक्रोश और विद्रोह तथा असंतोष के, अनास्था के स्वर अधिक सुनाई पड़ते हैं। इसका कारण है कि न तो उन्हें रस-रीति-अलंकार-छंदों का बखेड़ा है, न थकने-मूँदने की मर्यादा। वे अत्यन्त सरल, स्पष्ट और निर्भीक हैं, उनमें कथन की गम्भीरता और प्राणवत्ता है, शिल्प की परेशानी नहीं। गतिशील वैज्ञानिक युग में भूमिका आदि की क्या आवश्यकता? जो समझ में आया, जो भाव मानस लहरियों में उद्वेलित हुए, उतनी ही लहरियाँ शब्दों में व्यक्त होती हैं। इसीलिए आज की कविता सर्वाधिक विशिष्टता 'सूक्ष्मता', 'स्पष्टता' प्रायः देखने में आ रही है। इन कवियों में कोई दुराव-छिपाव नहीं। वे कलम की शक्ति से आक्रोश व्यक्त कर रहे हैं। वे नहीं चाहते कि जिस जीवन का भोग रहे हैं—उसे छिपावें या बढ़कर बतावें। जैसा कि पूर्ववर्ती कवि कर रहे थे। वे न आढ़ते हैं, न लपेटते हैं और न जबर्दस्ती कीचड़ में कूदते हैं। वे तो जिस मार्ग से जा रहे हैं, उस मार्ग के फूल-काँटों को चित्रित करना अपना कवि-धर्म मानते हैं। उसे ही व्यक्त कर रहे हैं।

आज का जीवन सुरक्षित नहीं है, जीवन विश्वसनीय नहीं है, जीवन का अगला क्षण, अगला दिन अपना नहीं है। विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों

का अहंकारी नंगा नाच मानवता की छाती पर हो रहा है। युद्ध के बादल गरज रहे हैं, संघर्ष का समुद्र उमड़ रहा है, स्वार्थ के झंझावत निरन्तर उद्वेलित और भयभीत कर रहे हैं। इससे कौन अप्रभावित रहेगा। विश्व के बड़े-बड़े भाषण फटकारने वाले आज के महापुरुष अपने घरों में जाकर विध्वंश की योजनाएँ बनाते हैं। चीन का राक्षसी रूप, वियतनाम में मानवता का मर्दन, अफ्रीका की रंग-भेद नीति, अकाल, आबादी के विकराल रूप आदि ऐसी बातें हैं कि न जीवन बाहर से सुरक्षित है, न भीतर से रक्षित। ऐसी भीषण समस्याओं के मध्य घिरा मानव-जीवन अपने आस-पास दोहरे रूप, ढकोसले, विकृतियाँ देखता है तो तिलमिला जाता है। युवक कवि इनसे कभी भी अप्रभावित रह नहीं सकते। उन्हें अनास्थावादी कहा जाय, अथवा परम्परा-विद्रोही, या विकृतियों का पुंज—वह सारे आरोप सहन करने के लिए प्रस्तुत है—परन्तु अनुभूत भावनाओं की भ्रूण हत्या वह स्वीकार नहीं करेगा। इसीलिए इस स्वर से संपृक्त कविताएँ ही आजकल अधिक आ रही हैं।

आपस में आज इतना अधिक अविश्वास है कि हम यह नहीं जान पाते कि कौन अपना है, कौन पराया। पड़ोसी को वर्षों जाना-पहचाना नहीं जा सकता। जीवन की भाग-दौड़, उस पर दो मिनट रुककर बात करने के लिए कोई विश्वसनीय साथी भी नहीं। प्रत्येक व्यक्ति निपट अकेला है—प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि वह सारी यातनाएँ स्वयं ही भोग रहा है, उसका कोई सहभोक्ता नहीं, कोई बल प्रदान करने वाला नहीं। उसमें भरोसा है कि वह इन दीवालों को तोड़ सकता है। दूसरों को सहयोग देने के लिए आमन्त्रित करता है।

इन सब कमजोरियों को छिपाने के लिए, जीवन को पवित्र और सार्थक बताने के लिए हम दर्शन और अध्यात्म की बातें करते हैं। यह जानते हैं कि यह सब ढकोसला है—ऐसा करना भी जैसे हमारी विवशता बन गयी है :

हम दार्शनिकता का ढोंग रचते हैं
भाग्य का लेखा-आत्म-परमात्म, मिलन,
लघु का विराट से गठबन्धन
थोथा है समाज का मूल आधार
एक ढीला तार, कर देता पूरी वीणा बेकार
आदम का बच्चा यहाँ हैवान है।

जहाँ लोगों के लिए भर पेट खाने के लिए अन्न, शरीर ढकने के लिए पर्याप्त कपड़ा, सुरक्षित रहने के लिए आवास के लिए एक झोपड़ी, रोगों से मुक्ति पाने के लिए दवाइयों का साधन न हो, वहाँ इस प्रकार की धर्म-दर्शन, आत्मा-परमात्मा, भाग्य, अभाग्य की बातें क्या मूल्य रखती हैं? धर्म का सबसे बड़ा स्वरूप मानव की सेवा है—इसे भुला दिया गया है। अधिक से अधिक यातनाएँ सहकर कम से कम सुविधा प्राप्त करने वाला आज का युवक उन सब अनबूझी पुरानी बातों पर क्यों विश्वास करेगा? जीवन के किसी भी क्षेत्र में वे प्रत्यक्ष होकर हमारी सहायता करने में में समर्थ नहीं हैं, जिसे न पुरानी पीढ़ी ने देखा, न वैज्ञानिकयुगीन देख पा रहा है। तब बुद्धि प्रधान युग में इस प्रकार के अंधविश्वासों में पड़कर कोई भी अपने जीवन को और भी जटिल बनाने के लिए क्यों तैयार होगा? अतः वह उस पुरानी लीक पर विश्वास नहीं करता। लोग भले ही अविश्वासी और अनास्थावादी कहें। उग्र युवक-वर्ग उन मान्यताओं और सिद्धांतों को बदलकर युगीन-संदर्भ देना चाहता है। उनके प्रति असंतोष व्यक्त करता है—

हम लीक पर चल नहीं पाए
और न उसे बदल पाए
इसलिए हम क्रुद्ध हैं—असंतुष्ट।
हम बूढ़े समाज के कंधे छीलते हैं
वह हमारी नसों की बागडोर खींचता है

वर्तमान बिखराव, विद्रोह और असंतोष का एक प्रमुख कारण दोनों पीढ़ीओं के बीच का संघर्ष है। पुरानी पीढ़ी प्रभुता छोड़ना नहीं चाहती, नई पीढ़ी अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। उसके मन में बुजुर्गों के प्रति, धर्म, समाज, राजनीति आदि के प्रति जो स्नेह-श्रद्धा थी वह इन्हीं परिस्थितियों के कारण चूर-चूर हो गई। उसे वे शब्द और मान्यताएँ थोथी प्रतीत होती हैं, क्योंकि उनमें कोई सत्यता ही नहीं है। उसे लगता है कि थोथी व्यवस्था रखने के बजाय अनास्थावादी बनकर कार्य करना शायद अधिक सार्थक होगा।

आज का युवक अतीत की घटनाओं और आदर्श मान्यताओं को जब आज की परिस्थिति में देखता है तो उसे लगता है कि इस प्रकार की घटनाएं सदा से होती रही हैं। धर्मराजों ने कभी भी खुलकर स्पष्ट, सत्य बातें नहीं कीं क्योंकि उन्हें अपनी स्वार्थहानि का भय था। स्वार्थ के कारण अमृत सभी को प्रिय रहा, विष दूसरों को देने का सभी लोगों ने सदैव ही प्रयास किया—क्योंकि उन्हें अपनी चिन्ता थी, दूसरों की नहीं। फिर भी वे श्रेष्ठ कहलाये। आज का युग ही ऐसा है कि जो अमृत पीकर दूसरों को विष दे वही महान है, वही प्रतिष्ठित बनकर रह पाता है। परन्तु आज की ईमानदार पीढ़ी इस सब अन्याय को न देखना चाहती है, न बरदाश्त कर रही है। उसके समक्ष सत्य का अर्थ सत्य और अहिंसा का अर्थ विशुद्ध अहिंसा है। असत्य और हिंसा के मार्ग का अनुसरण कर बाहरी सत्य-अहिंसा का प्रदर्शन उसे स्वीकार नहीं। उसे इसीलिए असंतोष है क्योंकि :

धर्मराज
रोज आधा-सच आधा झूठ बोलते हैं
और, इस आधा सच, आधा झूठ के बीच
द्रोणाचार्य भोगता है मृत्यु।

०

दूसरों को विष देकर अमृत जो पियेगा
आगे भी वही जियेगा
०
राम इन्द्र को नहीं रावण को मारते हैं
तारते विभीषण को
सुलोचनाएँ होती हैं सती
तारायें सौंप दी गईं सुग्रीवों को ।

यदि इसी परम्परा का अनुसरण और निर्वाह आज की बुजुर्ग पीढ़ी कर रही है, तो ऐसी दुधारी परम्परा को कौन अच्छा कहकर स्वीकार करेगा ? यदि आज की युवक पीढ़ी, युगीन युवक उसके प्रति अपना विद्रोह व्यक्त करते हैं—तो अनुचित कहाँ है ? उसका विद्रोह न्याय के लिए है, सत्य के लिए है, जीवन जीने के लिए है । आज के मानव का जीवन अनिश्चित है । विनाश की विभीषिका का आतंक भविष्य की लक्ष्य-हीनता की वेदना, शिक्षा की निःसारता का आक्रोश, जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों का अभाव व्यक्ति में खीझ उत्पन्न कर देता है । उसे लगता है कि उसके लिए सारा संसार अपरिचित है । कहीं कोई अपना नहीं, कोई सहानुभूति दिखाने वाला नहीं । भीड़ की सी जिन्दगी । जहाँ रेलमपेल तो है, भाग-दौड़ है—पर परिचय, विश्वास, दिशाबोध नहीं है :

हम किसी पीढ़ी में शामिल नहीं
हम एक भीड़ हैं
किसी आम सभा में
क्यू में, दुर्घटना में
नामहीन, वर्णहीन, वैदेशिक ।

हमारा जीवन हमसे ही अपरिचित और अनसमझा, अनबूझा है । हमें क्या करना चाहिए, किस दिशा-मार्ग का गमन कल्याणकारी है यह हम

स्वयं नहीं जानते । अत: भीतर-बाहर दोनों जगतों में अलगाव और तनाव की अनुभूति होती हैं । अपने से चिढ़, पराये से चिढ़ । ऐसा प्रतीत होता है जैसा जीवन एक सीलन से भरा कमरा है—जहाँ दुर्गंधि है, अव्यवस्था और कीचड़ है कुछ भी साफ नहीं, स्वच्छ नहीं :

कमरे की सीलन में दीमक का डेरा
जंगले पर पड़ा हुआ परदे का घेरा
बाहर और भीतर अलगाव
एक संघातिक तनाव ।

सब कुछ मृतवत, यंत्रचालित, निरर्थक, निर्बोध । किसी की सार्थकता नहीं । भूकम्प के बाद की स्थिति । कोई निदान नहीं । शिक्षा मंहगी, न्याय मंहगा, यात्रा मंहगी, जीवन का निर्वाह मंहगा । साधनों का अभाव, मंहगाई का भयंकर प्रकोप । परिणाम-स्वरूप अर्थ की प्रधानता और पापाचार का जन्म । उसी का बोलबाला । अर्थ की प्रधानता इस बात का प्रतीक है कि वहाँ सही और मूल्यवान आदर्शों की कोई महत्ता नहीं, कोई सार्थकता नहीं । वे केवल पुस्तकों में हैं, व्यवहार में नहीं । शिक्षा के क्षेत्र में कोई गंभीरता नहीं । 'शार्टकट' और बच निकलने का प्रयास सर्वत्र है । बिना किसी परिश्रम के, बिना किसी 'रिस्क' के अधिकाधिक अर्जन हो—यही मूल उद्देश्य है । चाहे उससे किसी दूसरे का अहित हो, उत्तम लक्षय की पूर्ति हो अथवा नहीं—यह सब गौण बातें रह गई हैं । शिक्षा में पवित्रता नहीं, कोई आकर्षण नहीं, गुरु में गंभीरता नहीं, सम्मान और प्रतिष्ठा नहीं :

जानते हैं विद्यार्थी कि फरवरी में खरीदेंगे कुंजियाँ
परीक्षा में दिखायेंगे छुरे या खोलेंगे थैलियाँ
और हो जायेंगे उत्तीर्ण गाँधी डिवीजन में ।
जानता है समाज कि ये मास्टर तीन कौड़ी का
इसकी क्या बिसात ?

न इसका रुतबा, न इसकी प्रतिष्ठा...।

इस अवस्था में ईमानदार विद्यार्थी पिट जाते हैं। उन्हें भी अन्ततः यही सोचना पड़ता है कि वही क्यों मेहनत करें और बदले में कुछ प्राप्त भी न हो। परन्तु इन कुंजियों को निकालने का श्रेय उनकी पूर्व पीढ़ी को है, शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण पूर्व पीढ़ी ने किया है और व्यवहारिकता का अनुभव वर्तमान पीढ़ी कर रही है—उसके गुण-दोषों का प्रभाव उस पर पड़ रहा है। परिणाम सभी भोग रहे हैं। 'शार्टकेट' पद्धति की कुंजियों का जन्म यद्यपि अर्थोपार्जन की दृष्टि से किया गया था परन्तु उसके भीषण परिणामों की ओर दृष्टि न गई। फिर उपदेशों से और अनावश्यक सुधारों से क्या लाभ ? एक ओर शिक्षा की यह उथली दशा दूसरी ओर शिक्षा से जीवन निर्वाह से लिए आज कोई आशा नहीं। तब गम्भीरता आये कहाँ से ? अतः अब किसी प्रकार से काम बना लेने की युक्तियाँ निकाली जाने लगीं। सर्वत्र विकृति ही विकृति। घूस और फरेब का सर्वत्र आधिक्य हो गया है। जो नहीं करता वह अधिक दुखी है जो करता है सो सुखी। उस विकृतिजन्य सुख के प्रति सभी का आकर्षण है। अतः विकृतियाँ ही बढ़ती रहीं :

आओ, हम खोखले जीवन को झूठे कहकहों से भरें
और एक नया क्षण बिना जिए ही मरें।

अथवा—

भूठ बोलो इतना कि सब बोलें
न बोलें तो न बोलें
लेकिन बोलने की नकल करें
उसे फैशन से
सरकार, संस्कार और संस्कृति तक ले जायँ
ताकि भूठ आदर्श बने।

यह धारणा निरन्तर जोर पकड़ती गई, और अब हमारे जीवन का अनि-
वार्य अंग बन कर सभी के लिए जीवन का पथ सा बन गई है। इसे ही
जीवन समझ लिया गया। यही हालत राजनीति के क्षेत्र में भी हुई।
जिस पवित्र उद्देश्य को लेकर स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी गई—वह पवि-
त्रता बाद में न रह पाई।

हर क्षण संघर्ष और कृत्रिम जीवन की विकृति अनुभव होती है।
विवशताओं ने मानव को जकड़ दिया, अनिश्चय और हृदयहीनता ने
संपूर्ण पीढ़ी को पथभ्रष्ट कर दिया। विनाश की काली छाया ने जीवन
में भय ही भय भर दिया। परिणामतः हर कदम अनिश्चित है, दुरलक्षित
है :

एक अनिश्चितता गड़ती है सुई की तरह
और उसमें आदमी का भविष्य उड़ता है रुई की तरह।

o

भय उसका चरित्र बन गया है
जिसे, टूटने और बिखरने की शंकाएँ
उसकी धमनियों को सुन्न करती हैं
उसकी साँसों के दरवाजों पर सर्प बैठे हैं
उसके खून में भय जहर की तरह फैल गया है।

जो उसके जीवन को निरन्तर नाश की ओर, मृत्यु की ओर अनचाहे ले
जा रहा है। ऐसा लगता है कि जीना भी आज व्यक्ति की मजबूरी हो
गई है। वह जिस जीवन को जीना चाहता था उसको जी नहीं पाता,
और जिससे दूर भागता था, उसे जबर्दस्ती जीना पड़ रहा है। उसे
जीवन को जीने के लिए विवश किया जा रहा है। क्योंकि उसे विवश-
ताओं में ऐसा बाँधा गया है कि तड़पन तो है, अक्रोश तो है—परन्तु वह
कुछ कर नहीं पाता। करने के लिए व्याकुल अवश्य है। यह पीढ़ी महसूस
करती है कि :

हमारी आँखें जो देखती हैं।

ओठ नहीं कहते

ओठ जो कहते हैं आँखें नहीं देखतीं।

यह पीढ़ी यह भी जानती है कि जिया जाने वाला जीवन सत्य नहीं है :

मैं हूँ, वह नहीं जो हूँ

वह, जो मुझे पहना दिया गया है।

आज के जीवन की हालत बड़ी विचित्र है। गाँव के लोग शहरी तड़क भड़क देखकर उसकी ओर आकर्षित होते हैं। वहाँ मृगतृष्णावश दौड़ते हैं···परन्तु वहाँ की दशा और भी विचित्र है। सर्वत्र लोग छटपटा रहे हैं। इससे मुक्ति चाहते हैं। इस अतृप्त जीवन को आखिर कब तक सहा जाय :

शहर : एक बेहद महँगा परिवेश

जिसमें तिलमिला रहे हैं लोग

शहर : एक जलता हुआ आंवा

शहर : एक जलता हुआ मरुस्थल

जिसमें बिल्ली के बच्चों की तरह

चौकड़ी भरते हिरणों की तरह

फँसे छटपटा रहे हैं लोग

सड़ी हुई मछली की दुर्गन्ध :

फैलती जा रही है लोगों की अतृप्त इच्छाएँ।

सबसे बड़ी विशेषता आज की पीढ़ी में है—आत्म-विश्वास की। जीवन जीने की अभिलाषा की। वे नहीं चाहते कि इन संघर्षों, पाखंडों और विसंगतियों से ऊबकर कहीं अन्यत्र चले जावें। अथवा आत्महत्या कर लें। जीवन को समाप्त करने का अर्थ है—पराजय। पराजय इस पीढ़ी को स्वीकार नहीं। इसीलिए वह संघर्ष करती हुई भी अपने जीवन को युग के अनुकूल परिवर्तित करने का प्रयास कर रही है। यह पीढ़ी

जानती है कि संक्रांतिकाल में इस प्रकार की विसंगतियाँ और विकृतियाँ सदैव से आती रही हैं। आज भी हैं और आगे भी रहेंगी। अतः उनका ख्याल है कि इनको दूर करने का उपाय यही है कि उनके अनुकूल जीवन को ढालकर इन्हें समाप्त किया जाय। इसके पूर्व की पीढ़ी सत्रांस, घुटन, टूटन, विघटन से घबड़ाकर आत्महत्या के लिए उद्यत होने की विवशता प्रदर्शित करती थी। लेकिन अनास्थावान यह पीढ़ी आत्म-हत्या अथवा पलायन की बात सोचती ही नहीं :

बहुत-बहुत परास्त होने के बावजूद
मैं पटरियों के नीचे आने की बात
नहीं सोच पाता…।

अथवा

चाहते हुए भी
मैं किसी पुल से ढह नहीं पाता।

यह अवश्य है कि भटकाव है। भागदौड़ है। यह पीढ़ी भी भागदौड़ में शामिल है, परन्तु उसे विश्वास है कि यह भागदौड़ सदैव न रहेगी। इसी में से कोई न कोई उपयुक्त मार्ग निकलेगा। यही पीढ़ी मानवता को कुछ न कुछ स्थायित्व प्रदान करेगी। यह दूसरों की दया पर जीना नहीं चाहती। अपने पौरुष और पराक्रम पर विश्वास रखती है :

जन्म लूँगा, लड़ूँगा जब तक भूखा है, एक भी इंसान
भीख लूँगा नहीं, अनाथ नहीं, मैं हूँ धरती की संतान
धरती का गौरव बन एक दिन धरती को दूँगा मान।

इस पीढ़ी का निश्चय है कि जो परम्पराओं में, मूल्यों में, धर्मों में विकृतियाँ, विसंगतियाँ आ गई हैं, पुरुषार्थों में जो जंग लग गया है…उसे वही दूर करेगी समय भले ही लग जाय। भले ही कितनी ही यातनाएँ भोगनी पड़ें, बहिष्कार सहन करने पड़ें, परिश्रम करना पड़े। परन्तु जीवन के रथ के जो पहिये विकृतियों के कीचड़ में धँस गये हैं उन्हें उनके बल-

वान हाथ निकालकर ही दम लेंगे :

फिर भी हम निकालेंगे
धँसे पहिये
हम सूर्य संताने
भले ही नाजायज करार कर दिए गए
अँधेरा कंधों पर धर कर उछालेंगे ।

इस पीढ़ी के प्रति हमारी आस्था जमती है । लगता है कि यह पीढ़ी समाज और जीवन के प्रति ईमानदारी से सोचती है । चिंतन कर मार्ग के अन्वेषण में लगी है । आत्म-हनन, विघटन, संत्रास, विभिषिका, भय, मूल्यहीनता, यांत्रिकता का भयावह चित्रण ही इनका मुख्य लक्ष्य नहीं है । जैसा कि इसके पूर्व की पीढ़ी का था । वह इन जटिलताओं के मध्य मार्ग खोजने का प्रयास कर रही है । हमें विश्वास है कि यदि लगन सच्ची है तो मार्ग मिलेगा ही । काव्य में जो अवरोधक स्थिति आ गई थी उस धारा को इसी पीढ़ी ने नये प्राण प्रदान किये हैं ।

●

नई-पुरानी का संघर्ष : दृष्टिकोण का अन्तर

उस दिन बंगला के ख्यातिप्राप्त उपन्यासकार श्री बिमल मित्र से चर्चा कर रहा था तो उन्होंने नयी पीढ़ी और युवालेखन को 'फ्राड की फसल' कहा। नयी पीढ़ी अपने युवा लेखन में बुजुर्गों को असमर्थ सिद्ध कर उसे 'आउट ऑफ डेट' कहकर अपने लेखन को समसामयिक एवं सार्थक सिद्ध कर रही है। इन दोनों के बीच की स्थिति स्वीकार करने का अर्थ यह है कि 'बिचोलिये' की संज्ञा प्राप्त कर दोनों पक्षों को आरोप-प्रत्यारोपों की सफाई देते हुए अपने को फँसाना। तब सही तथ्य क्या है ? यह तो निश्चित है कि इन दोनों ने पूर्वाग्रह के अति-छोरों का सम्बल ग्रहण कर वर्तमान जीवन-स्थिति में लिखे जा रहे साहित्यिक-दिशा को सही रूप में समझने की उपेक्षा की है। यद्यपि यह कहना भी बिचौलिया बनना है। यदि यह कहा जाय कि पुरानी पीढ़ी असामयिक हो चुकी है और नई पीढ़ी नये जीवन-स्वरों को पकड़कर वाणी नहीं दे सकी—परिणामतः आज का सामाजिक-बोल भी अभी भी गूँगे की स्थिति में रहकर बोलने के लिए फड़फड़ा रहा है—तो इसमें भी कुछ सत्य तो है। इसे

इनकारने के लिए सत्य को छिपाना होगा।

मैं बिमल मित्र की इस मान्यता को एकदम पूर्वाग्राही और असत्य स्वीकार करने के लिये तैयार हूँ कि 'नई पीढ़ी फ्राड की फसल' है। नई पीढ़ी 'फ्राड' की फसल नहीं है। उसमें जीवन-लालसा और संघर्ष का संकल्प विद्यमान हैं। वह कुछ कर गुजरने और समाज को परिवर्तित दिशाओं में तेजी से ले जाने के लिए आतुर है। लेकिन जब उनके संकल्पों को कहीं स्वीकृति नहीं मिलती, उनकी ईमानदारी की कहीं कद्र नहीं होती, उनके मार्ग को समझने के लिए कोई समय नहीं देता, उनके संघर्ष में साथ न देकर उल्टे रोड़े अटकाये जाते हैं, तो वह पीढ़ी सब कुछ तहस-नहस कर उपेक्षा का बदला उपेक्षा, अस्वीकृति का उत्तर अस्वीकृति, गाली का बायना गाली से देकर स्थान बनाना चाहती है। यद्यपि साहित्य में समझौता अच्छा नहीं माना जाता क्योंकि राजनीति और साहित्य की मान्यताओं में बहुत अन्तर है। फिर भी सही स्थिति को समझकर स्वीकारने में तो कोई बुराई नहीं है।

मैं यह नहीं कहता कि नयी पीढ़ी की बुलन्दी और स्वच्छन्दता में नियन्त्रण के ताले लगाये जायें, उन्हें अनुशासन और आदर्शों की महत्ता समझाई जाय। पुरानी पीढ़ी के गले इस प्रकार के सिद्धांत और आदर्श उतर सकते हैं, नई पीढ़ी के नहीं। क्योंकि जिन दिनों नई पीढ़ी ने संसार को देखने के लिए अपनी आँखें ऊपर उठायीं, उन्हीं दिनों अनुशासन लड़खड़ा कर आदर्शों, सिद्धांतों और आस्थाओं की महत्ता के साथ खिलवाड़ कर रहा था। जिस प्रकार के मैदान में, जिस प्रकार का खेल निर्देशक खिलाड़ी द्वारा टीम को सिखाया जावेगा, वही खेल टीम के खिलाड़ी आगे खेलेंगे। और जब देख लेंगे कि उस प्रकार से खेलने में पराजय होगी तो वे उसे छोड़कर अपने ढंग की 'स्टाईल' से खेलना प्रारम्भ करेंगे—भावना होगी कि किसी भी प्रकार से खेल जीतना है। यह रोचक भी होगा और सुखद भी। किन्तु यदि उनकी इस सात्विक

विजय-भावना पर जबरन पाबन्दी लगाई जावेगी तो हो सकता है कि वे जान-बूझकर खेल बिगाड़ना प्रारम्भ कर दें ताकि वे सिद्ध कर सकें कि खेल की पुरानी 'स्टाईल' आज की प्रगति और बदले 'ग्राउन्ड' में नाकाम हो चुकी है। लेकिन यह क्रिया-भावना एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए है। अपने लेखन की आत्मीयता और सामाजिक दायित्व की दृष्टि से नहीं। इसमें आत्म-स्थापना के लिए अस्तित्व का संघर्ष अधिक दिखाई देता है।

ऐसा दिखाई देता है कि नयी-पुरानी पीढ़ी के अस्तित्व का संघर्ष और आत्म-स्थापना की लालसा साहित्य में अधिक है। चाहे वह कहानी और नई कहानी का क्षेत्र हो अथवा कविता—नई कविता और अकविता का। चन्द दिनों में चार-दर्जन प्रकार के नारे कविता के लिए कितना दे पाये हैं यह प्रश्नवाचक चिन्ह अपनी जगह है। दे पाने का यह आशय नहीं कि वह कोई स्थूल वस्तु है। देने का आशय है वर्तमान मानव-स्वर को संजोकर कितनी सफलता और आन्तरिकता से सामने रखा जा सका है। इसमें सफलता के साथ लेखक का दायित्व भी जुड़ा हुआ है। इस दायित्व पर आशंका तब होती है जब वर्तमान के दायित्व और भविष्य की चिंता को स्पष्ट रूप से नकार दिया जाता है। नये-पुराने के संघर्ष का एक मुख्य तथ्य यह भी है। पुरानी पीढ़ी दायित्व के निर्वाह की बात करती हुई भविष्य की चिंता भी व्यक्त करती है। समाज के साथ जुड़कर अपनी भावनाओं को समाज के साथ मिलाकर उजागर करना चाहती है। जबकि नयी पीढ़ी अपने नवलेखन में इन दोनों तथ्यों से अपने को अलग कर केवल आत्मस्थ होकर आलोचनात्मक दृष्टि से समाज को देखती है। पुरानी पीढ़ी समाज के सुन्दर को देखने का आग्रह करती है अथवा असुन्दर को भी सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत करने का उपदेश देती है। जबकि नई पीढ़ी सुन्दर से अधिक असुन्दर को देखती है, और स्थापित करती है कि सुन्दर तो सुन्दर है ही, हम समाज के असुन्दर को

सकारण प्रस्तुत करके उसकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करते हुए उसके औचित्य-अनौचित्य का निर्णय लेने का प्रयास करते हैं। यह दृष्टि-कोण और 'अप्रोच' का अन्तर है।

नयी पीढ़ी की आस्था उन प्रतिमानों-स्थापनाओं पर इसलिए नहीं टिकती क्योंकि जिस रूप में वह उसे प्राप्त हुई वह अपने आप में वैसी सुन्दर नहीं थी जिस सुन्दरता का गुणगान किया जाता रहा है, बल्कि उसमें घृणात्मक भावनाएँ भी जुड़ गई थीं। अनुशासन, व्यवस्था, आदर्श, उपदेश, आस्था, ईमानदारी, सच्चरित्रता आदि की बातें करते हुए आज डर लगता है। अथवा ऐसा लगता है कि इन बातों की पक्षधरता में हम स्वयं भीतर से संकोच का अनुभव करते हुए और अधिक गैरईमानदार होते जा रहे हैं। कारण स्पष्ट है कि संपूर्ण समाज का ढाँचा ही इन जीवन-आदर्शों से दूर जा पड़ा है। जिस युग में जिस प्रकार का वाता-वरण होगा—उसी प्रकार का वातावरण, भावनाएँ, पात्र और स्थापनाएँ अपने आप होती चली जाती हैं। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और चारित्रिक किसी भी दृष्टि से हममें आत्म-विश्वास नहीं है। धन, पद, प्रतिष्ठा, ढोंग और कामुकता के हम शिकार हैं। नयी पीढ़ी अपनी शक्ति की उग्रता में यथार्थांकन की भावना में अतिशयता का शिकार भी हो जाती है। इसे हम भावुकता कहें तो शायद गलत न होगा। पुरानी पीढ़ी की भावुकता द्विवेदीयुगीन भावुकता है, नई पीढ़ी की भावुकता अस्वीकार युग की भावुकता कही जायेगी। भावुकता के प्रवाह में तथ्य के यथार्थ रूप की पकड़ हाथ से छूट जाती है—अथवा भावुकता का शिकार बनकर अतिशयोक्ति का आवरण पहन लेती है। इस स्थिति में नई पीढ़ी की यथार्थांकन की प्रवृत्ति और आक्रोशी शब्दों में समाज में क्रांति मचा देने की मुद्रा केवल चिढ़ाने की शकल बनाकर रह जाती है। जब आक्रोश भीतर से आता है तो मुख की मुद्रा के साथ हाथ की मुद्रा और क्रियाशीलता भी बढ़ती है, दायित्व वहन कर और ज्यादा बोझ

ओढ़ने की भावना बढ़ती है। लेकिन जब केवल मजाक में आक्रोश व्यक्त होता है तब वह मुख की केवल चिढ़ाने वाली मुद्रा बनकर रह जाता है, जिससे सामने वाला भी या तो चिढ़ायेगा या हँसकर मनोरंजन करेगा। उससे किसी को प्रभावित करने, दबाने अथवा बदलने की अपेक्षा केवल कल्पना कही जायेगी।

हमें उन कारणों पर भी विचार करना होगा कि आज की पीढ़ी उन आकर्षणों की ओर जल्दी उन्मुख क्यों होती है जो हमारे जीवन आदर्शों पर आघात करते हैं अथवा विपरीत जाते हैं। एक अंग्रेजी पत्रिका के पिछले अंकों में पाश्चात्य देशों में सामूहिक-विवाह की शुरुआत होने का समाचार सचित्र छपा था। उसमें यह भी कहा गया था कि २०-२० लोगों के सामूहिक विवाह होंगे। उसका अर्थ यह होगा कि सामूहिक विवाह में सम्मिलित प्रत्येक स्त्री-पुरुष हर एक-दूसरे के पति-पत्नी होंगे। हर पुरुष हर स्त्री का पति होगा। हर स्त्री हर पुरुष की पत्नी होगी। अभी तक 'न्यूड क्लबों' की बात और व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर सब कुछ कर गुजरने की स्वतंत्रता की बात सुनी जाती थी। उस सभ्यता से जुड़ी हमारी पीढ़ी उसकी ओर आकर्षित होकर उसके साथ जुड़ जाना चाहती है। क्यों? लगता है कि नयी पीढ़ी आदिम अवस्था की ओर जाना चाहती है। आज की सभ्यता की धूर्तता ने उनके जीवन-विश्वासों में जो अनास्था भर दी है उसको वे इस प्रकार के वातावरण में रहकर भुला देना चाहते हैं। लेकिन शराब पीने से पीड़ा को स्थायी रूप से समाप्त करना संभव नहीं है। किन्तु नई पीढ़ी की इस भावना का कारण स्पष्ट है—यहाँ जिन आदर्शों और जीवन में आकर्षणों और उपलब्धियों की बात की जाती रही है वे आज असमर्थ और निरर्थक सिद्ध हो रहे हैं, जिससे किसी चीज की उपलब्धि की आशा व्यर्थ समझी जा रही है। हम निर्गुण के वातावरण में बौद्धिक वर्ग को अब अटकाये रखने में असमर्थ हो गये हैं क्योंकि हममें ही उपलब्धि की ऊँचाई अथवा गहराई शेष

नहीं रही। अतः यहाँ से निराश हुई पीढ़ी जीवन के अन्य आकर्षणों की ओर बढ़कर उसका औचित्य सिद्ध करती हुई उसके प्रस्तुतीकरण के लिए प्रयत्नशील हो रही है। 'अ' का परिव्याप्ति उसी की प्रतिक्रिया कही जायेगी। फिल्मों में चुम्बन की अनुमति और परदे पर प्रदर्शन के लिए हमारा विरोध अखबारों में जोरदार ढंग से बराबर हो रहा है। होना भी चाहिये। यदि मानवता को कामुकता के भाड़ में झोंकने से रोकना है, यदि इस दृष्टि से भारत को इंग्लैंड और अमेरिका नहीं बनाना है तो इनका विरोध करना होगा। किन्तु हमें यह भी देखना होगा कि परदे पर चुम्बन के प्रदर्शन का विरोध करने वाले अपने जीवन में भी आदर्श की सीमाओं के प्रति ईमानदार हैं।

मेरी दृष्टि में पुरानी और नई पीढ़ी का अन्तर और उसका कारण यहाँ अपने आप स्पष्ट हो जाता है। पुरानी पीढ़ी अपने जीवन में कुछ भी करती हुई परदे पर सार्वजनिक प्रदर्शन का विरोध कर उसे ही आदर्श मानती है, जबकि नई पीढ़ी अपने जीवन की क्रियाओं को परदे पर प्रदर्शित करने में कोई संकोच नही करती। उनका कहना है कि सामाजिक जीवन परदे पर आना चाहिये। यही यथार्थ है, समाज के साथ जुड़े रहने का प्रमाण और दायित्व की सजगता है।

इस बात पर भी विचार करना होगा कि जो पीढ़ी पुरानी पीढ़ी की ईमानदारी और सामर्थ्य पर प्रश्नचिन्ह लगाकर उसे साहित्य से अलगाने के लिए आकाश-पाताल एक कर रही है—उसमें कितनी ईमारदारी और सामर्थ्य है। श्री बिमल मित्र ने बताया था कि बंगाल में 'भूखी पीढ़ी' जैसा कोई आन्दोलन नहीं है—अखबारों में भले ही हो। जब उनसे पूछा गया कि पत्रिकाओं में रचनाओं के साथ उन्हें प्रकाशित किया था, तो उन्होंने स्पष्ट कहा कि इस प्रकार का आंदोलन करने बाले बंगाल के बाहर से आए कुछ लोग हैं। यदि यह सत्य है तो इस प्रकार के आंदोलनों में बँटी नई पीढ़ी में कितनी ईमानदारी है। हम रचना-कौशल

और अनुभूति की ईमानदारी तथा सामाजिक-जीवन की सूक्ष्म-दृष्टि के अभाव में केवल पत्र-पत्रिकाओं में नई पीढ़ी के दावेदारों को कितने दिनों तक जीवित रख सकेंगे।

अब समय आ गया है कि हम आत्मस्थापना के लिए छोटे घरौंदे बनाकर अपने संसार को सीमित न करें। क्योंकि पेड़ पर चढ़कर चिल्लाने से ऊँचाई नहीं बढ़ती। हमें जमीन पर पैर टिकाने होंगे। यदि हमें वर्तमान जीवन-साहित्य में अपना स्थान सुरक्षित करना है तो सब कुछ नकार कर हलका होने की प्रवृत्ति निश्चित रूप से छोड़नी पड़ेगी। जिम्मेदारियों से भागते हुए साहित्य में स्थापित होकर समाज को प्रभावित कर सकें—यह गलत है। जैसा कि प्राय: रचना-सहजता दायित्वहीनता और विकृति-दर्शन में ही हम अपनी सारी शक्ति गँवा देते हैं। हमारे लिए आवश्यक नहीं कि हम पुरानी दृष्टि का चश्मा लगायें। हम अपनी दृष्टि से देखें, समाज के साथ जुड़कर गंभीरता से अध्ययन करते हुए उसकी अभिव्यक्तियों और प्रतिक्रियाओं को रचना में उतार कर उस दिशा-बोध का संकेत करें, जिसका अनुभव स्वयं रचनाकार को हुआ है। यह उपदेश और आदर्श नहीं बल्कि रत्नाकार की रचना भूमि है। क्या कारण है कि अनेक बुराइयाँ थोपी जाने के बाद भी नई कहानी सप्राण है और सचेतन कहानी निष्प्राण हो गई। वही व्यक्ति हैं, वही साधन हैं, वही वातावरण है। केवल प्रचार की बैसाखी और गुट की 'गुट्टरंग' से साहित्य की दिशा नहीं बनती। उसके लिए कुछ और चाहिए। यह 'कुछ और' है अनुभूति, चिन्तन और दृष्टि के साथ सही प्रस्तुतीकरण का कौशल। कविता के पाँच वर्षों के अनेक भागों में कितने सामने हैं? क्या ऐसा नहीं लगता कि सब कुछ नयी कविता के परिवेश में समाता चला जा रहा है। क्यों? वहाँ वह 'कुछ' है जिससे जीवन मिलता है। बिना किसी नई स्थापना दृष्टि के कोरा अस्वीकार पलायन है। इस पलायन से बचना होगा। पलायनवादी गाली दे सकता है, इसके अतिरिक्त उसमें न कुछ

कर पाने की क्षमता होती है, न देने की । यदि यह 'आस्थावान पीढ़ी' जिसका विवेचन मैंने 'साठोत्तरी पीढ़ी के आस्थावान ताजे स्वर' शीर्षक से एक लेख में किया था—(उसके दुहराने की आवश्यकता ही नहीं है) जिसमें वह 'कुछ' है जिसका होना आवश्यक है—निश्चित ही कुछ दे जायेगी—भाषा, शिल्प, दृष्टि एवं सामर्थ्य की दृष्टि से, यदि वह किसी उथले गिरोह और प्रचार के झोंको में कोरे यशार्जन के लिए भटक न गयी तो ।

•

ईमानदारी की तलाश

निश्चित रूप से आज जीवन में जो उलझाव और अनसमझी-अनचाही समस्याओं का अम्बार लगा है उसने जीवन को भी एक अनबूझी पहेली की जासूसी स्थिति तक पहुँचा दिया है—जहाँ मनुष्य अपने को भूखा-नंगा, असुरक्षित, अशांत, असन्तुष्ट, अनास्था आदि के अनहद नाद के बीच चकराई मनोदशा में अर्ध-विक्षिप्त सा अनुभव करता है। एक दिशाहारा-अनिर्दिष्ट यात्री की तरह जो चल रहा है—बस चल रहा है क्योंकि चलना उसकी विवशता है।

लेकिन यदि आज के साहित्य को बारीकी से देखने की एकान्त चेष्टा की जाय तो ऐसा अनुभव होता है जैसे जीवन की यथार्थ स्थितियों के उद्घाटन की या तो साहित्यकारों में शक्ति नहीं है—या उन यथार्थ के टकराओं से बचकर कतराने की प्रवृत्ति ज़्यादा है। जबकि दावा आज सबसे ज्यादा यथार्थ अभिव्यक्तियों की ईमानदारी का किया जाता है। इसके दो कारण हो सकते हैं—या तो जो साहित्यकार हैं वे जीवन की स्तरीय स्थितियों से ऊपर हैं और वे ईमानदारी से उन्हें भोग नहीं रहे—या फिर व्यक्त करने की शक्ति अभी वे जुटा नहीं पाये। कायर सबसे

ज्यादा चिल्लाकर अपने को साहसी और वीर प्रमाणित कर अपनी कमजोरी छिपाना चाहता है, वही कुछ लक्षण कई साहित्यकारों में आपको मिलेंगे। अथवा वे तथाकथित साहित्यकार पूँजीपतियों और शासनों के हाथ इस कदर बँधे हैं कि अपनी वाणी बेंच चुक होते हैं—उनके मुख में पूँजीपति या शासन का मुख 'फिट' कर दिया जाता है, उनकी उँगलियों की जगह पूँजीपतियों या शासन की उँगलियाँ 'फिट' कर दी जाती हैं—जहाँ वह कलम पकड़ाई जाती है, जिसमें से साहित्य रूप ग्रहण करता है।

वस्तुतः दो प्रकार के वर्ग हमें साहित्य क्षेत्र में मिलेंगे (१) पुरानी पीढ़ी (२) नयी पीढ़ी। पुरानी पीढ़ी अपने पुराने होने की रायल्टी पर सबसे अच्छा खाकर स्वस्थ मठाधीश बनना चाहती है। जैसे स्वतंत्रता की लड़ाई में भाग लेने वाले त्यागी-निस्वार्थी देश सेवकों के साथ काम करने वाले द्वितीय श्रेणी के राष्ट्रभक्त संघर्ष से बचकर राष्ट्र संचालन के अधिकारी होने का दावा करने लगे, और इस नाम पर कि वे उस काल में पैदा हुए थे—अतः उन्होंने भी संघर्ष में भाग लिया और उन्हें अब दूसरों का हक छीनकर भी प्रतिष्ठित जीवन बिताने का अधिकार है। वैसा ही कुछ दावा इस पुरानी पीढ़ी के साहित्यकारों का भी है। किसी समय विशेष में पैदा हो जाना ही इसके लिए काफी नहीं है। जो पचीस-पचास साल पूर्व पैदा हुए वे आज अपने-अपने अखाड़े बनाकर नये-नये पहलवान पैदा करने की सोचते हैं—और चाहते हैं कि उनके दाँव-पेंच सर्वश्रेष्ठ रहें। उनके झँड़े ऊचे रहें। उनके शिष्यों के गले में मालायें रहें। और माला धारण करने वालों के कंधों पर वे उस्ताद रहें। वे भूलते हैं कि इस आवरण में अब वे दूसरों को ठग नहीं सकते। उनमें से अधिकाँश या तो प्रकाशक हैं—या सरकारी लेखक या सरकारी नौकर। चूँकि इस स्थिति में वे साधन-सम्पन्न हैं, अतः आज के साहित्य को निर्देशित करना चाहते है, जिनका काम ही जय बोलना और जय बुलवाना

रहा है। इस वर्ग से सच्चे साहित्य की आकांक्षा करना भ्रम की ही बात कही जायेगी। यद्यपि वे आज भी अपने को परिपक्व और शान्तनु की तरह चिरयुवा ही मान रहे हैं।

एक दूसरा वर्ग नयी पीढ़ी का है जो यथार्थ स्थिति का अनुभव कर विचलित होती है कि हमारा साहित्य आज भी जीवन के धरातल के साथ जुड़ नहीं सका। वह पीढ़ी उस धरातल पर उतरने की चेष्टा करती है, किन्तु उसमें अनेक पुराने चेहरे बेनकाब होने लगते हैं। बेताब नयी पीढ़ी परशुराम की तरह सम्पूर्ण शासनाध्यक्षों की हत्या करने में विश्वास करती है—किन्तु पुरानी पीढ़ी के विश्वामित्र कम होशियार नहीं है। वे राम का रामत्व कायम रखकर अपनी गुरुगद्दी बरकरार रखते हैं। वे परशुराम का आशीर्वाद राम को दिलाकर आशीर्वाद देने का अपना अधिकार भी सुरक्षित रखने में निपुण हैं। पिछले कुछ वर्षों में उठाई गई विभिन्न आवाजों का क्या हुआ ? आज इतनी जल्दी वे शान्त कैसे हो गईं ? उसका कारण है—जब नई पीढ़ी जीवन की यथार्थ स्थितियों को उद्घाटित करने की शक्ति-शिल्प एकत्र ही कर रही थी कि उन्हें इन अखाड़ेबाज 'गुरुओं' ने बादाम का हलुआ दिखाकर अपने-अपने कब्जे में कर लिया। भूखे पेट साहित्यकार अपनी विवशता में स्वाभिमान बेंचकर उस हलुए के प्रभाव से गुरु के संरक्षण में उसके अखाड़े में दण्ड-बैठक मारने लगा। अब गुरू के दाव पेंच ही शिष्य के दाँव-पेंच हैं। गुरू कहता है कि बेटे! ऐसी 'ताल' मार कि संसार गूँज जाय। उस ताल में शिष्य की जंघा पीड़ित हो तो हो, कम से कम गुरू के अखाड़े का स्वर तो बुलन्द हो। अब उसमें नयी पीढ़ी की यथार्थ अनुभूतियाँ नहीं है बल्कि गुरू की दृष्टि से पुराने अनुभवों के आधार पर नए को बाँधने की चेष्टा है। पत्र-पत्रिकाओं के मालिकों ने अखाड़ेबाज गुरुओं की व्यवस्था के लिए बड़ी-बड़ी जायदादें लगा रखी हैं। उन बहुप्रचारित पत्र-पत्रिकाओं में शिष्य का प्रवचन सचित्र छपा। गुरू ने सभा में एक दो बार खुले आम पीठ ठोंकी और

शिष्य कृतार्थ हुआ। फिर वह पूर्ण भावेन गुरू के चरणों में लोटकर पूंछ हिलाता है कि जिसके लिए वर्षों परेशान रहा वह गुरु-कृपा से आज सम्भव हुआ। यदि कबीर क्षमा करें तो मैं कहूँ कि शिष्य तब अप्रत्यक्ष स्वीकारता है—

तू तू करे तो बाहुरों दुर दुर करे तो (जाँ) पाँव।
गले गुरु (राम) की जेवड़ी जित खींचें तित जाँव।

इस स्थिति में अनुभूतियों की सच्ची अभिव्यक्ति की अपेक्षा हम किस साहित्य से करें? प्रारंभ में अतिशयता से ग्रस्त नया साहित्यकार इस प्रकार विलीन होता है, जो बच जाते हैं वे अपना मठ अलग बनाने की चिन्ता करते हैं। वे योजना बनाकर जीवन की अनुभूति करते हैं—सहज अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं करते। इस उलटी दशा में जीवन अलग और 'फ्रेम' में संगति देने के लिए अनुभूतियों की गढ़न अलग प्रतीत होती है।

सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि इन अखाड़ेबाज महन्तों—नागा बाबाओं के हाथ में सूत्र है, संचालन है—किन्तु स्वयं वे क्या करते हैं उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। माल खाकर शिष्यों से मालिश कराना और पीठ ठोंकना ही तो सब कुछ नहीं है। अनेक सम्पादक जो कभी साहित्यकार थे जो आज भी साहित्यकार होने का बिना लिखे दावा करते है, जो यह समझते हैं कि समालोचना, कहानी, कविता, गीत-नव-गीत को दिशा देने का ठेका उन्हीं का है, वे लिखें चाहे न लिखें। वे यथार्थं अनुभूतियों से कोसों दूर भले ही रहें फिर भी मानकर चलते हैं कि साहित्य की दिशा को अन्तिम रूप देना उन्हीं के हाथ में है। आप एक दर्जन सम्पादक पायेंगे जिन्होंने वर्षों से कलम नहीं चलाई, फिर भी सबसे बड़ी गद्दी उन्हीं लोगों के नाम से लिखी गई है। भारतवर्ष में प्रवचन और भाषण का बहुत जोर है—मजदूरों से लेकर प्रबुद्धों और शासकों तक। उसी का शिकार साहित्यिक वर्ग भी है। लेखन से दूर

भागता है। यदि लेखन है तो जीवन-दृष्टि नहीं है। क्योंकि ईमानदार अनुभूति नहीं है। यदि अनुभूति है तो वह भीतर है, शब्दों में कृत्रिमता है। यही कारण है कि आज भी जब साहित्यकार का क्षेत्र व्यापक बन गया है, प्रकाशन के साधन बढ़ गए हैं—जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति करने वाले स्वर अभी भी फैल नहीं पाये।

उसका आशय यह नहीं कि साहित्य लिखा नहीं जा रहा। खूब लिखा जा रहा है। लेकिन उसमें एक ही कमजोरी है—सही संवेदनात्मक अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति का अभाव। मेरा ख्याल है कि जहाँ यह नहीं, वहाँ साहित्य झूठा है—निरर्थक और क्षणिक है। सबसे बड़ी दुखद बात यह है कि अप्रतिबद्ध और अपूर्वाग्रही बताने वाले साहित्यकार ही सबसे अधिक बेईमान हैं। उनमें से कोई किसी सम्पादक से बद्ध है, कोई किसी पूँजीपति से, कोई शासन से और कोई वर्ग, वाद या दल से। हम यह सब उजागर रूप से जानकर भी उसकी भर्त्सना नहीं कर पाते क्योंकि हमारी भी दस-बीस रुपये पाने की लालसा की विवशता है। 'लिटिल मैगजीन्स' की आलोचना करने वाले क्या प्रारम्भिक जीवन को भूल गए ? क्या साहित्य में जो भी अच्छा और शाश्वत हैं उनमें ऐसे ही लोगों का रक्त नहीं है जिसका शोषण उन जैसे 'मोटी मैगजीन्स' ने किया है ? रक्त दान हमारा है—दान से रक्त-वर्धन करने वाले उन जैसे लोग हैं। साम्यवादी स्वर बुलन्द करने वाले बड़े नामवर लोगों के गुर्गे क्या उतने ही हैं जो लाठी लेकर दूसरों का सिर तोड़ने के लिए तैयार रहते हैं ? क्या कहानी पत्रिकाओं से सम्पादक अनेक वर्षों से कहानी विधा का सूत्र हाथों में लेकर 'कमल' की तरह जीवन जल से अलग नहीं हैं ? वे भूल गए कि उनकी सुगंधि और सौंदर्य में जोवन-जल का योग है। उसे खिलाने वाला पूँजीपति सूर्य बाद में आया। लेकिन ऐसे 'कमलों' का मुख अभी उन्हीं सूर्यों से खुलता-बन्द होता है। उन्होंने कई वर्षों से समाज को क्या दिया ? क्या वे पुरानी 'रॉयल्टी' का नहीं

खा रहे ? क्या उन्होंने अपने कों बेचा नहीं ? क्या वे अपने पीछे दूसरों को भी खरीद नहीं रहे ? ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण हैं—जो बम्बई से कलकत्ता और दिल्ली से दक्षिण तक व्याप्त हैं। जिसकी झलकें हमें तब मिलती हैं जब पूँजीपति उन खरीदे गए घोड़ों पर सवारी करने के बाद उनकी कमर तोड़ कर उन्हें बाहर कर देता है। तब उस कमर टूटे घोड़े की कराह में यथार्थ स्वर सुनाई पड़ता है। उस स्थिति में 'अन्तिम अध्याय' की जो रचना होती है—उसमें आत्म-स्वीकृतियाँ या नाटकीयता स्पष्ट होती हैं।

इस प्रकार की विचित्र स्थिति में आज का हमारा हिन्दी साहित्य पनप रहा है—जहाँ ईमानहारी को ढकने का योजनाबद्ध प्रयास सा है। आज अनेक साहित्यकारों का जीवन उनके पेट की मजबूरी बन चुका है। कुछ भी लिखना है, देखना-समझना बहुत दूर की बातें हैं। कई बार तो आदेश पर साहित्य-रचना होती है। जहाँ लिखना पेट के लिए विवशता हो—जहाँ लिखना यश-अतृप्ति की तृप्ति के लिए हो, जहाँ लेखन अनुभूतियों से दूर केवल शाब्दिक खेल हों, जहाँ लेखक शक्ति-सामन्तों का अनुचर हो—वहाँ सही और ईमानदार लेखन की जिज्ञासा पूरी होना बहुत कठिन है।

इसके लिए बिना किसी पूर्वाग्रह के इन सामन्तों का मुकाबला किया जाना जरूरी है। मेरा आशय यह नहीं कि इसके लिए कोई ऐसा संगठन हो। क्योंकि संगठन होने पर फिर वही शिकायत खड़ी होगी कि इसमें एक लक्ष्य-पूर्त्ति के लिए साहित्य के नाम पर कुछ भी लिखा जा रहा है। लेकिन लेखक स्वाभिमान के बल से जीवन के धरातल पर उतर कर लिखें। वे ईमानदारी से अपनी अनुभूतियाँ व्यंजित करें—उन्हें अभी उपेक्षा और दुत्कार भले मिले किन्तु स्थायी महत्त्व की दो रचनाएँ भी बहुत हैं, बजाय किन्हीं के कीर्तिगान के अनेक ग्रंथों के। छोटी पत्रिकाएँ इसी को लक्ष्य बनाएँ तो कोई कारण नहीं कि अल्प साधन वाले अपना

सीना तानकर ईमानदारी का निर्वाह न कर सकें। हम चंद टुकड़ों पर अपने को और कब तक बेचते रहेंगे ? वाणी हमारी है, मस्तिष्क-हृदय हमारे हैं, हाथ हमारे हैं, दृष्टियाँ हमारी हैं फिर हम परारे क्यों बन रहे हैं ? नए लेखक और छोटी पत्रिकाएँ इस दिशा में सोच सकती हैं। क्योंकि नए लेखक और नयी पत्रिकाएँ सदैव ही दिशा-दर्शक और मार्ग को पुष्ट बनाने वाली रही हैं जिन्होंने नए और सही दृष्टिधारी लेखकों को उभारा है।

●

साहित्यिक गैर-ईमानदारी और नए कवियों का आक्रोश

स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए भारतीयों की अनेक पीढ़ियों ने सैकड़ों वर्षों तक लगातार कठिन संघर्ष किया। तन-मन-धन सभी कुछ समर्पित करके उन्होंने जिस वातावरण की प्राप्ति की आशा और अपेक्षा की थी—वहाँ पूर्ण शान्ति, संतोष, सद्‌भावना और उच्च चारित्रिक-व्यवहार की संभावना थी। परन्तु स्वतंत्रता के साथ ही हमें वह न प्राप्त हुआ जिसकी अपेक्षा की गई थी, बल्कि विरासत में मिलीं हमें अनेक समस्यायें और कठिनाइयाँ आर्थिक विषमता-विपन्नता, पाश्चात्य-प्रभाव, बेकारी, चारित्रिक दृढ़ता के दर्शन हमें स्वतन्त्रता के पूर्व हुए थे—वह जैसे विलीन हो गई और सिर्फ रह गई सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक, चारित्रिक विकृति। अतः इन अनपेक्षित, अनचाही समस्याओं, कठिनाइयों और विकृतियों के प्रति नई पीढ़ी के मन में तीव्र आक्रोश स्वाभाविक ही है। साहित्यकार उसी जीवन और वातावरण को अपनी रचना का प्राणस्रोत बनाता है जिसे वह स्वयं देखता, भोगता और जीता है। उनके प्रभावों-प्रतिघातों को ग्रहण कर वह सर्जन करता है। इसलिए यदि इन युगीन रचनाओं में इस

प्रकार के स्वर सुनाई पड़ते हैं, तो न तो वे अवास्तविक हैं न अनपहचाने। प्रगतिवाद मार्क्सवाद से प्रभावित सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में इसकी प्रमुखता तो है ही—वैसे भी विना पूर्वाग्रह के लिखी गई सहज कविताओं में भी इस तथ्य की झलक मिलती है।

साहित्य से हम समाज में आदर्शों की स्थापना और युगानुकूल परिवर्तन की दिशा पाने की इच्छा करते हैं। परन्तु अन्य क्षेत्रों की भांति इस क्षेत्र में भी विकृतियों की अधिकता हो चली है। ईमानदारी का लेखन और वर्ग गुट बनाकर अधिकाधिक झूठा सम्मान पाने, नाम कमाने की लालसा अधिक है। इसलिए लिखने की अपेक्षा गोष्ठियाँ, वक्तव्य, स्पष्टीकरण और विवेचनाएँ अधिक दिखाई देती हैं। पढ़ने-लिखने की ओर ध्यान देने की बजाय आज का प्रत्येक लेखक अपने पूर्ववर्ती को दुत्कार कर अपने को जन्मजात विद्वान सिद्ध करने के प्रयास में है—संभवत: शिवप्रसाद सिंह के भाव सही हैं कि—

कहा मन ने, न बनो बुद्दू
रहो गुल खिलाते (कुछ न कुछ)
यह साहित्यिक—जगत है
बढ़ जाओगे यों ही चिल्लाते चिल्लाते
(हंग्री—बीटनिक—दिगम्बर तरह)
और रहे अगर चुप।
रह जाओगे जहाँ हो वहीं गिड़गिड़ाते।
यहाँ लिखने-लिखाने की कोई कीमत नहीं होती—।

कुछ ऐसे भी लोग हैं जो कवि कहलाने में अपमानित अनुभव करते हैं क्योंकि उन्होंने देखा कि समाज और जीवन में साहित्यिक पवित्रता का वातावरण रहा ही नहीं—इसलिए—

'तुमने मुझे कवि कहकर पुकारा।
तो जी में आया कि जीभ निकाल कर।

तुम्हें बिरा दूँ…' क्योंकि कविता कुछ नहीं—सिर्फ—
'चंद कुत्ते बदमाशों के इर्द-गिर्द ।
दुम हिलाते हुए मानवता, न्याय, नैतिकता,
संस्कृति, ईमानदारी, बदतमीज शब्द ।
छाती पर सवार हो मेरा गला दबोचने लपकते है ।
आत्मरक्षा के नाम पर मुँह से निकलती है सिर्फ ।
एक गाली—उसे तुम चाहो तो कविता कह लो ।'

साहित्यिक-गोष्ठियाँ, जहाँ अपेक्षा की जाती है कि किसी भी निर्धारित विषय पर विद्वतापूर्ण चर्चा होगी, गम्भीर विवेचन होगा, वहाँ भी केवल एक दूसरे की आलोचना, समालोचना, व्यंग-विनोद, हँसी-मजाक के अरिरिक्त कुछ नहीं होता । उसकी मूल्य कदाचित इतना ही है कि किसी पत्रपत्रिका में उसकी सूचना छप जाय । तभी शायद कुलवन्त कौर ने व्यंग करते हुए लिखा कि—

'यार ! अमुक जी की गोष्ठी भी क्या खूब रंग लाती है—
इनके बनारसी पान तो सच लाजवाब हैं ।'

और जब इन साहित्यिक गैर ईमानदारी से पत्र-पत्रिकाओं के लिए कविताएँ, कहानियाँ या अन्य मौलिक रचनाएँ माँगी जाती हैं तो वे देने में असमर्थ रहते हैं, बदले में विश्लेषण-विवेचन (जो आज कल बड़ा सस्ता हो गया है) भेजने की बात करते हैं—

हम माँगते हैं कविता ।
तुम देते हो वक्तव्य ।
हम चाहते हैं कहानी ।
तुम भेजते हो विश्लेषण ।
जब धरती की तरह उर्वरा है अनुभूति का क्षेत्र ।
और आकाश की तरह विविध रंगी हैं ।
शिल्प की संभावनाएँ

फिर क्यों फैलाते हो शब्दों का जाल
परिभाषाओं का जंजाल ?—दिनकर सोनवलकर

आज का साहित्य गद्य-पद्य, रस-रूप के झमेले में फँसकर रह गया है। विवादों की कंटीली-झाड़ियाँ तथा गुटों को इस्पाती-दीवारें न तो उसका सौन्दर्य देखने देती है और न मधुर गंध आने देती है। कविता की तरह कवि स्वयं नहीं जान पाता कि वह किस मार्ग का अनुसरण करे—

गद्य नहीं, पद्य नहीं, फिर क्या हूँ ?
बस इसी झमेले में फँसा हूँ,
रस नहीं, छंद नहीं, फिर क्या हूँ,
बस इस कसौटी पर कसा हूँ,
कवि हूँ या और कुछ···
यही सोच अभी-अभी हँसा हूँ···। —रामकृष्ण श्रीवास्तव

जो पुराने प्रतिस्थापित-प्रतिष्ठित-सम्मानित साहित्यकार हैं नयी समर्थ पीढ़ी को इसलिए उठने नहीं देते कि कहीं यह पीढ़ी उनके सम्मान को ठेस न पहुँचा दे। उनके सम्मान को कम न कर दे। अतएव वे ऊपर से सहयोग का एलान तो करते हैं परन्तु भीतर से चाहते हैं कि पीढ़ी समर्थ न बन पाए। इस पर रामकृष्ण श्रीवास्तव ने प्रकाश डाला—

'तुम उगो मैं सींच रहा हूँ
किन्तु मठे से
याद रहे मैं मठाधीश हूँ।'

आज तो स्वर्गीय साहित्यकारों को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए आयोजित समारोहों के मूल में प्रायः श्रद्धा नहीं, स्वार्थ प्रमुख रहता है। स्वार्थ यही कि इस बहाने उनका नाम पत्र-पत्रिकाओं में छपेगा, चर्चा होगी और साहित्य में स्थान बनने के साथ ही अर्थलाभ होगा। इसके दो उदाहरण बड़े ही पुष्ट हैं—एक महाप्राण निराला और दूसरा मुक्ति-

बोध। दोनों को जीते जी जीवन की सारी संभावित यातनाएँ भोगनी पड़ीं, परन्तु मरने के बाद वर्षों हल्ला होता रहा। उनके वे पारिवारिक (१) साहित्यकार उनके जीवित रहते तो नहीं, मरने के बाद उनकी महत्ता पहचान सके। दिल्ली के एक समारोह में तो एक समर्थ साहित्यकार ने कहा था कि निराला के लिए जितने आँसू बहाये गये उतने हिन्दी-साहित्य में आज तक किसी के लिए नहीं बहाये गये। परन्तु क्या वास्तव में वे श्रद्धा और आत्मा से उद्भूत पवित्र आंसू थे? या घड़ियाली पानी था? आज के ये श्रद्धालु मरने वालों को शान्ति से मरने भी नहीं देते। बल्कि उनकी लाश को कंधे पर उठाये जोर-शोर से हल्ला मचाते हैं ताकि लोग यह जान लें कि यही सच्चे साहित्य-सेवी है, परोपकारी हैं और साहित्य के मर्मज्ञ तथा सर्वाधिक संवेदनशील हैं। वे उसी लाश का पिंड तब तक छोड़ने के लिए तैयार नहीं जब तक कि उनके हाथ में दूसरी कोई बड़ी लाश न आ जाये। इस रहस्य को सभी जानते हैं, परन्तु कहें क्या? सभी एक मर्ज के शिकार हैं। अनिल कुमार के भावों में भी इस बात की पुष्टि होती है—

पाठ्यग्रन्थों के लेखक मुक्तिबोध का श्राद्ध करें,
मिल ओनर कीमती पंडाल में बैठकर पढ़े शोक प्रस्ताव
चुंगी चोर उद्योगपति दें स्मारक का सुझाव
संस्था की बाँबी में बैठे अंधे सर्प-शोक-संदेश फुफकारें
निष्क्रिय संस्थाओं के मंत्री गाएँ मर्सिया
तुकोजी राव कविता गढ़े
गीत रचें छायावादी तालबद्ध गाएँ।

०

आओ, लेख लिखो, मुक्तिबोध की गर्मराख पर—
भाषण के कागज-फूल चढ़ाओ।

०

अफसोस ।

मुक्तिबोध ऐसे लोगों के बीच जिए, जूझकर मरे ।

तेरही के पिंड में काम बनकर यही लोग

सोने की चोंच जुठारें, श्राद्ध करें ।

आज की गैरईमानदार कविताओं के शब्द कितने खोखले और प्रभावहीन हैं, इसकी झलक हमें बालकृष्ण राव की कविता में मिलेगी :

'डरो न इनसे

शब्द हमारे बन्द कोष में

बँधे अर्थ की जंजीरों से

बेबस हैं अब ।

कटे-छंटे हैं, रंगे हुए हैं इनके पैने नख

बड़े हर्ष से पूँछ हिलाते खड़े रहेंगे ।

शब्द हमारे रक्तहीन ग्रंथिक-भाषा के—

डरो न इनसे ।

क्योंकि इनमें वास्तविकता नहीं, कृत्रिमता है । ईमानदारी नहीं, ढकोसला है । आस्तीन का साँप किसी पर क्या भय-प्रभाव पैदा करेगा ? आज के साहित्य में व्यापारिकता का भाव है । जिस प्रकार चित्रकार नाना रंग-रूप के चित्र बनाकर बेचता है, उसी प्रकार आज का साहित्यकार हर प्रकार के साहित्य की रचना करता है । कहानी, कविता, निबन्ध, उपन्यास, संस्मरण सब कुछ एक ही व्यक्ति से प्राप्त किए जा सकते हैं उसमें भी चाहे जिस प्रकार के ले लीजिए :

जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ—

यह गीत सख्त सरदर्द भुलायेगा

यह गीत पिया को पास बुलायेगा,

जी, इसमें नाखुश होने की क्या बात ?

मैं पास रखे हूँ कलम और दावात ।

जी ! गीत जनम के लिखूँ, मरण के लिखूँ

कुछ और डिजाइन भी हैं…। —भवान प्रसाद मिश्र

परन्तु इस प्रकार की अराजकता और गैर-ईमानदारी अधिक दिनों तक साहित्य में न रहेगी। वर्षों का कीचड़ भरा गंदला पानी अपनी प्रखर गति से शीघ्र ही समुद्र के अतल में चला जायेगा। उनका अस्तित्व समय के सागर में विलीन होगा। रह जायेंगे कल ईमानदार-आस्थावान सही साहित्यकार। उनके ही साहित्य का मूल्यांकन होगा। लम्बा इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर लिखने वाला, मंच बनाकर चिल्लाने वाला लेखक (?) साहित्यकार नहीं बन सका। कभी न कभी तो अवसर आयेगा ही इसलिए सोनवलकर जी का कहना है कि :

मत खोदो एक दूसरे की जड़ें

मत खींचों एक-दूसरे की टाँग

सुबह तो होगी ही मियाँ

कुछ मुर्गे

भले ही न दे सकें बाँग।

●

साठोत्तरी : आस्थावान कवियों के ताजे स्वर

साहित्य के प्रत्येक सोपान में जहाँ एक बाढ़ आती है, वहीं एक ऐसी पीढ़ी भी होती है जो अपना स्थायी स्थान बनाती रहती है। यह स्थायी स्थान बनाने वाली पीढ़ी ही सही अभिव्यक्ति करती है। जो केवल बाढ़ को विकराल बनाने का प्रयास करते हैं वे चन्द क्षणों के बाद उतर कर समय के अथाह सागर में विलीन हो जाते हैं। साठोत्तरी पीढ़ी इस समय की सर्वाधिक चर्चित पीढ़ी है। पक्षधरों के अनुसार यही पीढ़ी ईमानदार है, इनकी अभिव्यक्ति ही शाश्वत है। पुराने खेमों के पुरोधा लोगों के अनुसार इस पीढ़ी में कोई नवीनता नहीं—बल्कि उनके अनुचर हैं, जो उन्हीं के दिखाये गए मार्ग पर चल रहे हैं। कुछ सीमा तक दोनों सही हैं—कुछ सीमा तक गलत। न तो नई पीढ़ी पुरानी से एकदम अलग है और न एकदम अनुचर। कुछ परिवर्तनों के साथ विकास के चरण बढ़ाती जा रही है।

साठोत्तरी पीढ़ी की हमें स्पष्ट विवेचना करनी होगी। इसमें कुछ तो वे लोग हैं जो कपड़े उतार कर चमड़ी छीलकर 'विद्रोही' 'भूखी,'

'क्रुद्ध' पीढ़ी के मार्ग को प्रशस्त कर 'अकविता' या 'अस्वीकृत कविता' को प्रतिष्ठित कर अपनी दमित विकृतियां को व्यक्त कर किसी भी रूप में अपनी मान-मर्यादा (?) बनाए रखना चाहते हैं। इसका विवेचन मैं अन्यत्र कर चुका हूँ। उन्हें हम युग-बोध और जन-मानस की आस्थावान पीढ़ी के रूप में स्वीकार नहीं कर सकेंगे। एक दूसरा वर्ग है जो बड़ी ही ईमानदारी से तटस्थ होकर जन-जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति करने में लगा है। इनकी यह अमलता-विमलता, इनकी अविकृत आस्था, इनकी शांत तटस्थता, सूक्ष्म दृष्टि ही इन्हें स्थायी बनाएगी इसमें संदेह नहीं, ऐसा स्पष्ट आभास हो रहा है। 'अकविता' अथवा 'अस्वीकृत कविता' वाले तो बहुत शीघ्र अस्वीकृत होकर कोई और मार्ग तलाश करने को बाध्य होंगे, जबकि यह नितान्त नयी, जीवन को गति-बल देने वाली, जन-जीवन में सम्मिलित रहकर जीने वाली पीढ़ी अपना स्थान बनाकर रहेगी।

यह नितान्त नयी और ताजी पीढ़ी जिसे साठोत्तरी पीढ़ी कहा जा सकता है—पूर्ववर्ती पीढ़ी से भिन्न है। जब नयी कविता वाले समाप्त हो गए—केवल दुहराने वाली बात ही रह गयी, तब साहित्य की गति कब तक अवरुद्ध रहती। इस पीढ़ी ने उसे प्रवाह प्रदान किया। नए कवियों (मेरा आशय तारसप्तकीय अथवा उस प्रकार के कवियों से हैं) ने अपने को जन-जीवन से दूर रखकर केवल नागरी काफी हाउसों और चर्चा-गोष्ठियों तक ही सीमित रखा। उन्होंने मशीन का चित्रण किया, मशीनी यंत्रणा के यथार्थ भाव का नहीं, उन्होंने विज्ञान की भीषणता का चित्रण किया, उस भीषणता से उद्भूत सही त्रास का नहीं, उन्होंने आत्मा को न तो पहिचाना, न अनुभव किया, तभी तो आत्म-विघटन का स्वर उछाला गया। उन्होंने अमीरी और प्रतिष्ठा के वातावरण में रहकर गरीबी का सही चित्रण न कर अप्रत्यक्ष रूप से उनको मनोरंजन का पात्र बनाया। ऐसा लगता है कि उनका सारा त्रास, सारी

विडम्बना, सारी कुंठा, सारी घुटन, उत्पीड़न, विघटन, विभीषिका, कुहासा उन पर आच्छादित है। परन्तु नयी आस्थावान ताजी पीढ़ी उसे भोग कर सच्ची अभिव्यक्ति दे रही है। उसे जीवन से घृणा नहीं, लगाव है, जीवन से भागने की नहीं, निकट आने की लालसा है, वे मशीन को नहीं, मशीन के साथ कार्य कर रहे सामान्य व्यक्ति को देखते हैं, वे विज्ञान की भीषणता की कल्पना पर नहीं, बल्कि चोट पर टिके हैं। वे संक्राँति के टकराव पर हैं। इस ताजी पीढ़ी का कहना है कि नए कवि भी रोमानी थे। छायावाद के कवियों की रोमानगी यदि प्रकृति, आकाश और काल्पनिक नारी तक थी, तो नए कवियों की रोमानगी काफी हाऊसों की गद्देदार-कुर्सियों-टेबिलों के बीच रखी चाय-काफी और स्ट्रौ से बिंधकर शब्द-जाल और वाक्-जाल तक बंधी रही। जीवन के बीच उन्होंने ईमानदारी से आने का प्रयास नहीं किया। इसीलिए उनमें जीवन का संस्पर्श कम, यथार्थ की सहज अनुभूति कम, अयथार्थ और ओढ़ने-बनने, दिखने-दिखाने की प्रवृत्ति ज़्यादा है। इसीलिए वह काव्य जन-मानस के निकट स्थान न बना सका। वह अपनी अयथार्थता, क्लिष्टता में छटपटाने लगा। इस आरोप और कमजोरी को छिपाने के लिए उनके इश्तहार निकले कि वे सामान्य के लिए नहीं विशिष्ट के लिए लिख रहे हैं।

नयी ताजी साठोत्तरी कवि पीढ़ी इस प्रकार के ढकोसले नहीं करती। यह ताजी पीढ़ी यंत्र से परे हटकर जीवन के यंत्रीकरण को संवेदनशील बनाने का प्रयास करती है। उनमें स्वदेशी गन्ध है, अपनी भूमि पर पैरों को टिकाये यह पीढ़ी खुले नेत्रों और खुले कानों से सब देख-सुन रही है। वे न तो पूर्ण नैतिकता का दावा करते हैं और नहीं 'नागा-बाबा' बनकर स्वयं को योगी और दूसरों को भोगी कह रहे हैं— वे विकारों को दूर करने की भावना उत्तेजित करते हैं, विकारों को उत्तेजित करने में उनका विश्वास नहीं। अत्यन्त संक्षेप में, सरल शब्दावली के द्वारा जो मन में भावना उठे, जो जीवन भोगा-देखा उसे ही

अभिव्यक्त कर देना, समाज की किसी भी अवस्था की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर देना—उनका धर्म है। वे झोपड़ी के निकट हैं, झोपड़ी वालों के निकट हैं। परन्तु वहाँ रहकर भी उनकी दृष्टि सीमित-संकुचित नहीं, उनकी प्रतिभा कुंठित नहीं है, वे सभी राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों, भावों, परिवर्तनों एवं प्रभावों से परिचित हैं। उनमें आस्था का परिवेश व्यापक है। वे समाज को विकसित, सुगठित, सुखी देखना चाहते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति का कटाव-अलगाव दूर करना चाहते हैं। उनकी ताजगी के स्वर हम कहीं भी देख सकते हैं। लेकिन आवश्यकता है कि चेतनामयी ताजी अभिव्यक्ति में विकृति के मूषक चुपके से घुसकर अन्दर ही अन्दर अपने घर न बना लें। ताजे कवि कुंठाग्रस्तता की बात नहीं करते क्योंकि उनके मत में कुंठाग्रस्तता काव्य के लिए बाधक है—काव्य यदि कभी समाज के सामान्य बोध के धरातल पर नहीं आ पाया तो उसका मूल कारण है सृजन और विवेचन की कुंठाग्रस्त प्रवृत्तियाँ। इस आस्थावान पीढ़ी की चेतना व्यापक है जो देशी भूमि पर टिकी है—जहाँ विदेशी मस्तिष्क रखकर देशी व्यंजना संभव नहीं। तभी तो इस पीढ़ी के समर्थकों की मान्यता है कि—'आज की कविता व्यक्ति का कटाव उसका दौर्बल्य स्वीकारने को तैयार नहीं। वह तो उन शब्दों-अर्थों की खोज में है जो व्यक्ति को नये सामाजिक दायित्व दे और वह व्यक्ति-विकास को सभी दूरियों के सीमांत तक उन्हें अपने से जुड़ा हुआ रख सके।' स्पष्ट है कि इन कवियों की मान्यताओं और रचनाओं में जनजीवन के निकट आकर सही बात कहने की लालसा और तीव्रता है। इसीलिए इनमें अपेक्षाकृत सम्प्रेषणीयता की शक्ति अधिक है। अपने कथ्य और व्यंजना में ये बड़े ही सरल हैं। यथा :

(१) करते हैं बहस, साहित्य-चर्चा
अमूर्त्त कला-व्याख्या
नई और नई कविता

डर बदलते युग बोध का ।
पोंछते थकान चेहरों की
जाते नहीं पार
डर
बच्चों की बीमारी
राशन समस्या
पत्नी की झड़प का । —डा० गोपालकृष्ण सराफ

(२) मैं जीता नहीं, जिलाया जाता हूँ
दूसरों की इच्छानुसार
कपड़े पहनता हूँ ।
समाज के नियम कानूनों का मुखौटा लगाए
मैं एक सभ्य आदमी हूँ । —डा० सराफ

हम देख रहे हैं कि इन कवियों में सहज कथन के साथ ही व्यंग्य की तीव्रता आ गई है, और वे अपनी बात सीधे-सादे परन्तु प्रभावशाली ढंग से कहने की अद्भुत क्षमता रखते हैं। उनमें पीड़ा को समझने और अंकित करने की शक्ति है। क्योंकि वे जन-जीवन के कवि हैं, अतः यह तथ्य उनमें खूब है :

पोखर में प्रतिबद्ध
विकास की परम्परा से कट गया
गन्दगी का व्यक्तित्व खड़ा हो गया
सतह पर
कुत्सा पसर गई,
निर्मलता भर गई ।
आओ ।
नदियों का बंद मुँह खोलें
विकास के अजस्र प्रवाह से जोड़ें ।

कितना सहज, सरल कथन है इन कवियों का। उनके इस नएपान का कारण इसी प्रकार की अवरुद्धता और उससे उत्पन्न मलिनता ही है। वे चाहते हैं कि अपनी शक्ति से प्रवाह को आगे ले जाकर उसे निर्मलता प्रदान करें, ताकि रुकी काई बह सके। इन पंक्तियों में साहित्य, समाज, जीवन की वर्तमान दशा, साथ ही नए कवियों की मान्यताओं की मूल भावना भी संयोजित है। इस प्रकार की क्षमता इन कवियों में पहली बार ही देखने को मिली। इनमें कहने का साहस है, लेकिन वह साहस विकृतियों को खोलने फैलाने का नहीं, बल्कि व्याप्त बुरायों पर करारी चोट करने का साहस है :

प्रभुसत्ता सम्पन्न एक पूरा का पूरा देश
अफीम की ऊंची हदबंदियों में घेर दिया गया है।
संसद उड़ाती लंतरानियाँ
विधान सभाएँ छोड़ती फुलझड़ियाँ।
कचहरियाँ, सचिवालय हैं ऊँघते,
विश्वविद्यालय उच्छिष्ट गन्ध सूंघते
मुक्त चिन्तन करते अखबार
यह रही, वह रही तिलस्मी मीनार।
अहोरात्र चलती रहती आकाशवाणी।
बरस रहा कम्बल भीग रहा पानी। —बाल कृष्ण उपाध्याय

इन पंक्तियों में देश के मुख्य केन्द्रीय स्थलों की दुरावस्था का चित्रण है। उन स्थानों की विकृतियों का चित्रण है जिस पर देश का भाग्य टिका है। कवि ने कितनी गहरी चोटें की हैं इन पंक्तियों में। लेकिन अकवियों की तरह ये केवल शारीरिक अंगों तक ही सीमित नहीं हैं। इनकी दृष्टि बाहर फैलकर तथ्यों को पकड़ती है। देश के इस दशा-दर्शन के बाद कवि भविष्य के लिए चेतावनी भी देता है :

बलात्कार के बाद के आक्रोश से

बिलकुल कस गया है आकाश
कभी भी वज्रपात हो सकता है
परिवर्तन के कगार पर खड़ा है इंतजार
सर्कस टूटने ही वाला है। —बाल कृष्ण उपाध्याय

नया कवि वर्तमान परिस्थितियों का टूट कर भी साहस के साथ मुकाबिला करना चाहता है। उसका ध्येय मृत्युत्रास और सामायिक विभिषिकाओं के डर से न तो कहीं भागने का है, न आत्महत्या करने का। वह तो तनकर खड़ा हो जाना चाहता है उन कठिनाइयों और संघर्षों के समक्ष :

यह सच है
बहुत कुछ टूट चुका हूँ
दिन ब दिन
टूटता और टूटता जा रहा हूँ मैं।
लेकिन पूरी तरह टूटने से पूर्व
एक बार तन कर खड़े होने
और भरपूर वार करने की इच्छा
जीवित रखती है मुझे। — कौशल मिश्र

नए कवियों को दुख यह है कि वे अपने प्रति और समय की परिस्थितियों के प्रति ईमानदार नहीं हैं। संकोच और स्वार्थ ने घर कर लिया है पीढ़ी पर। अत: वे स्वयं आत्म-हनन करते हैं। ताजी पीढ़ी इससे छुटकारा पाना चाहती है, क्योंकि अब वह भीतर-बाहर के रूप एक करना ही लक्ष्य समझती है।

स्वतंत्रता का स्वाद लेकर जीवन को बदलने का स्वप्न देखने वाले लोग स्वतंत्रता की कीमत क्या जानें? उन्हें तो वह बिना प्रयास के मिली। प्रयास वाले पीछे हैं। गैर प्रयास वाले आगे। अत: उसका महत्व कहाँ से आँका जाये? इसीलिए स्वतंत्रता सौभाग्य नहीं—दुर्भाग्य लेकर

आई तभी तो—

सोफे पर बैठे बिठाए मिली थी स्वतंत्रता
अगरबत्ती की तरह
होने लगी राख। —श्री राम वर्मा

आज का नया कवि लघु होकर कार्य करना चाहता है। लघु होकर बड़ा बताने की प्रवृत्ति उसमें नहीं है, क्योंकि उसका विश्वास है कि बड़े कार्य नहीं करते, केवल बड़प्पन बचाने का प्रयास भर करते हैं। इसीलिए आज का कवि स्पष्ट करता है—

छोटा बनकर जी लेने की जिसमें बिसात
वह करे काम
जिसको बनना है बड़ा
किताबें पढ़े लिखें, गप्पे छाटें
आनन्द करें

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज के कवियों में ताजगी है, परिवेश के प्रति ईमानदार आस्था है, जन-जीवन के प्रति लगाव और नैकट्य है, यंत्रीकरण और मृत्युत्रास तथा कुंठा का ढोंग नहीं है, बल्कि उसकी संवेदनात्मक अनुभूत व्यंजना है। बुराइयों, विकृतियों और जीवन-संघर्षों से जूझने की ललक है, अपने बल-भरोसे पर चलने का आत्वविश्वास है। बुराइयों के प्रति आक्रोश उत्पन्न कर समाप्त करने का संकल्प है। व्यंग की क्षमता है। स्पष्ट, सरल और सूक्ष्म-कथन की अद्भुत कला है—जब कि 'अकविता' वाले अगंभीरता का ढोंग कर विकृतियों को दूर करने के बजाय अपने को शारीरिक अंगों में लिपटाकर केवल विकृत भावनाओं को और भी उभारने का पौष्टिक तत्व तैयार कर रहे हैं। हमें शिव ग्रहण कर अशिव को अस्वीकारना होगा। जो स्वयं अस्वीकृत हैं उसे कौन स्वीकारे, जब तक कि वह स्वीकार करने योग्य नहीं बन जाता। इस ताजी नयी पीढ़ी के स्वरूप से साहित्य को बड़ी अपेक्षाएँ हैं। ●

छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की पलायनवादी अकविता यात्रा

●

●

जिस प्रकार द्विवेदीयुगीन नैतिकता और शिल्प की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया स्वरूप छायावाद का उद्भव हुआ और उसने अपने नवीन स्वरूप, शिल्प, अभिव्यक्ति से कविता को नए आयाम, नया जीवन, नया सौंदर्य प्रदान किया, उसी प्रकार वह अपनी अतिशय भावुकता, काल्पनिकता और अमूर्त्त भाव-चित्रण की अयथार्थ भाव-व्यंजनाओं के कारण केवल कल्पना बिहारी हो गया। जिसे प्रगतिशील तत्वों ने अयुगीन (आउट ऑफ डेट) घोषित कर उसी के समकक्ष प्रगतिवाद को जीवन दिया।

प्रगतिवादियों का नारा था कि अब तक का काव्य केवल प्राकृतिक सौंदर्यपान और कल्पना-उड़ान का पलायनवादी काव्य था जिसमें लिजलिजी भावुकता और कोमल पदावली के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आज का जीवन कठोर जीवन है। उसको अनुमान दृष्टि से नहीं, खुली दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। आदर्श बघारने की नहीं, यथार्थ चित्रण की आवश्यकता है। अभी तक का काव्य जीवन जगत से अलग

पड़ गया है। उसे जीवन से जोड़ना आवश्यक है। इसी आधार को लेकर उन्होंने अंध-विश्वासों, धार्मिक आचार-व्यवहारों पर गहरी चोट की। समाज के उपेक्षित वर्ग किसानों-मजदूरों-शोषितों को गले लगाकर उनकी दीन-हीन अवस्था को न केवल सामने रखा बल्कि उसे पूँजीवादियों के सिर पर ऊपर आसमान में उछाला। उन्होंने पूँजीपतियों की तिजोरियों को छीनने-जलाने की बात कही और जब इसमें असमर्थ हुए तो उन पर थूकना प्रारंभ किया। नारी को उन्मुक्त करने की नयी प्रेरणा समाज को प्रदान की। विषमता की समाप्ति के लिए साम्यवाद का नारा बुलन्द किया। पंत, निराला आदि में प्रगति के तत्व न रहे हों, सो बात नहीं है—'मुक्त करो नारी को मानव' या 'ताज' अथवा निराला की 'बनबेला', 'भिक्षुक' आदि कविताएँ इसी श्रेणी की हैं।

लेकिन ये प्रगतिवादी, जिन्होंने लोक-जीवन और लोक-भाषा की नई दिशा-भूमियों का स्पर्श किया था, एक दूसरी प्रकार की भावुकता के शिकार हो गए। यदि छायावादी काल्पनिक भावुकता के दलदल में हिलते-डुलते रहे, तो प्रगतिवादी दीन-हीनों के काल्पनिक चिथड़ों और चिपके पेटों के इतने आत्मीय बन गये कि उन्हें कुछ और न सूझा। उन्होंने फटा कपड़ा देखा नहीं, भिखारी आया नहीं कि उनकी सहानुभूति खलबलाने लगती थी। परिणाम यही हुआ कि यह प्रगतिवाद अपनी नए प्रकार की भावुकता, थोथी नारेबाजी, प्रचार और राजनैतिक साम्यवाद की सीमाओं में बँधकर दम तोड़ने लगा और कोई गति प्रदान करने में असमर्थ हो गया।

अब तब जीवन-भूमियाँ बदल चुकी थीं। दो महायुद्धों की विनाशक विभीषिका विश्व-मानव देख चुका था। वैज्ञानिकता के प्रसार और यांत्रिकता की प्रमुखता ने व्यक्ति जीवन को बुरी तरह से जड़ बना दिया था, झकझोर डाला था। व्यक्ति-जीवन की जटिलताएँ आवश्यकता से अधिक बढ़ चुकी थी। वैसे तो हर युग में प्रचलित मूल्यों-मान्यताओं पर कसौटी

परक दृष्टि डाली जाती रही है, परन्तु तारसप्तकी युग में आकर जैसे हर चीज अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से देखी जाने लगी। पूर्व-मान्यताओं में कोई सार्थक तत्व युग के लिए दृष्टिगोचर न होने लगा। अत: जहाँ युद्ध की विभीषकाओं (भले ही वे केवल सुनी गई हों) से लोगों में असुरक्षा का भय संचरित हुआ, यांत्रिकता के कारण जहाँ व्यक्ति का मूल्य कम हुआ, वहीं श्रद्धा और आस्था घटने के कारण अनास्था एवं कुंठाओं को जन्म मिला। सारी मान्यताएँ असमर्थ एवं निर्मूल सिद्ध होने लगीं। व्यक्ति अपने को अधर पर लटका हुआ देख रहा था। उसकी दृष्टि बदल चुकी थी। तभी शायद अज्ञेय को कहना पड़ा कि 'हम अतीत के खंडहर पर खड़े हैं, जहाँ हमें कुंठा, अनास्था, जड़ता, धुरीहीनता, नपुंसकता, मृत्यु-त्रास और जीवन-निर्मूल्यता मिली है, किसी प्रकार का आधार नहीं। हमें इन्हीं खंडहरों पर जीवन के नए मूल्यों का निर्माण करना है। हम यहाँ अपना काम श्रद्धा और भावुकता (जो छायावाद के प्रमुख गुण थे) से नहीं चला सकते और न ही प्रगतिवाद की नारेबाजी से ही कुछ लाभ होगा। हमें नयी भाषा तलाशनी होगी और जीवन की इन विसंगतियों के बीज से ही मार्ग का निर्माण करना होगा। हमें वैज्ञानिक और तार्किक दृष्टि, बौद्धिकता एवं नई भाषा से काम लेना होगा।'

प्रयोगवादियों का दावा था कि वे इस युग के सर्वाधिक सचेष्ट कलाकार हैं जिनमें एक ओर जहाँ आधुनिकता-बोध है वहीं समसामयिक दृष्टि और अभिव्यक्ति की क्षमता भी है। उनका सर्वाधिक जोर शिल्प और बौद्धिकता पर था। उनकी मान्यता थी कि भाषा और कला का लक्ष्य ही है कि वह पाठक को अपनी चमत्कारिकता से मुग्ध कर दे या आश्चर्य में डाल दे। उनका दावा था कि हम युग-परिस्थितियों को आत्मसात कर तटस्थ भाव से ईमानदारी के साथ यथातथ्य रूप में व्यक्त यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं। इसमें उनकी वैयक्तिकता निहित है जो आत्म-रति से अलग प्रकार की है। क्योंकि उनका यह भी कहना था कि हम

स्वान्तः सुखाय नहीं लिखते। सामाजिक-जीवन को व्यक्त करने का प्रयास हमारा है।

सौंदर्य-बोध के संबंध में उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि हम सौंदर्य को सीमित और एकांगी नहीं बनाते। सौंदर्य के 'सु' और 'कु' दोनों पक्ष हैं। जिसे असौंदर्य और त्याज्य कहा जा रहा है, वह भी सौंदर्य का एक रूप है। सौंदर्य की पूर्णता उसको साथ लेकर चलने में है—छोड़ने में नहीं। यहीं श्लीलता-अश्लीलता के विवाद को प्रमुखता मिली थी।

प्रयोगवादियों ने नई भाषा, नया शिल्प, नए तथ्य और सत्यान्वेषण की बात जोरों से उछाली। जिसका स्पष्ट आशय है कि उनका ज़ोर शिल्प-क्षेत्र में है, भाव-बोध का नहीं। परिवर्तन और क्रान्ति भाव-क्षेत्र की स्थायी और प्रभावशालिनी होती है। शिल्प की क्रांति आवरण की क्रान्ति है—आंतरिक आत्मा की नहीं। नए रूपों को प्रतिष्ठित करने का उसमें प्रयास भर होता है। आश्चर्य की बात यह है कि अज्ञेय से लेकर उनके तीसरे सप्तक तक की सेना का कोई भी सेनानी प्रयोगवाद को खुले रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं। जिस प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप इस प्रयोगवाद का आगमन हुआ उससे अलग प्रकार की प्रगति ही उनका लक्ष्य है। उनके काव्य को देखकर ऐसा लगता है कि उन्होंने व्यक्ति-मन के अन्दर घुसने का प्रयास नहीं किया। बल्कि बाहर ही उन युग-विभीषिकाओं और जटिलताओं को आरोपित किया। उनका संबंध छायावादी भावुकता से पूर्णतः छूटा नहीं। इसीलिए वे छायावादी काव्य-मान्यताओं को कहीं खंडित नहीं करते।

प्रयोगवाद का आन्दोलन शिल्प और सौंदर्यात्मक आन्दोलन था। सौंदर्य-तृष्णा में प्रयोगवाद आखिर कृत्रिमता का शिकार होकर रह गया। इसे एक प्रकार से छायावाद का एकपक्षीय विकसित परिशिष्ट भी कह सकते हैं। केवल 'मुलम्मा' और 'कलई' को नया रूप-रंग देना भर काव्य की उपलब्धि नहीं मानी जा सकती, जब तक मूल भावों और जीवन की

अंतरंगता में परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन यही कहा जा सकता है कि छायावादी जहाँ फूल और लता की बात करते थे वहाँ प्रयोगवादी कैक्टस और हरी घास, काई तथा खंडहर की बातें दुहराते हैं। प्रयोगवादियों में भी नितान्त रोमानी भावना है। उन्होंने व्यक्ति को लघु तो बनाया परन्तु प्राणवान बनाने की शक्ति उनमें नहीं दिखाई देती। छायावादी अमूर्त्त सौंदर्य की बात करते हैं, प्रयोगवादी आत्म-परक सौंदर्य की चर्चा। अंतरंग पुराना, आवरण नया। वह नए मूल्यों अथवा दृष्टिकोणों की स्थापना नहीं कर सका। अनभोगी बातों का चित्रण अधिक किया।

इस प्रकार प्रयोगवाद केवल शिल्पकारिता-बौद्धिकता छायावादी प्रभाव एवं सौंदर्यात्मक रागात्मकता के चक्कर में ही घूम कर रह गया। उसमें परिवर्तन के जिन कारणों का उल्लेख किया गया था, उसे काव्य के भावबोध की सामग्री बनाने में वे सर्वथा असफल रहे। प्रयोगवाद नाम देने वाले आलोचकों ने जब उनकी इन तमाम कमजोरियों पर आघात किया तो तार-सप्तक के छायावादी भावुकता से प्रभावित अनुचर तीसरे सप्तक के आते-आते तक 'नई कविता' ईजाद कर बैठे। इसका कारण यह था कि प्रयोगवाद की इस असफलता की प्रतिक्रिया स्वरूप एक नयी पीढ़ी धीरे-धीरे उभर रही थी।

इसमें कुछ तो वे लोग थे जिन्हें 'सप्तकों' में स्थान नहीं मिल पाया। क्योंकि जिस प्रकार द्विवेदी युग में लेखक का खिताब पाने के लिए 'सरस्वती' में छपना जरूरी था, उसी प्रकार इस युग में कवि कहलाने के लिए 'सप्तकों' में स्थान नितान्त आवश्यक था। 'सप्तकों' के ही कुछ लोग थे जिन्होंने समझ लिया कि प्रयोगवादी शब्दजाल में उलझे रहकर ज्यादा दिन टिके नहीं रह सकते—कुछ नयी प्रतिभाएँ भी थीं।

नयी कविता ने प्रयोगवादियों की तरह शिल्प को काव्य का प्राण स्वीकार नहीं किया। उनकी मान्यता थी कि हमें भाव-बोध की सीमाओं को घुसकर देखना है, वहीं परिवर्तन करना है। यदि हमने जीवन के

अन्तरंग भावों को समझकर आत्मसात कर लिया और उसे सच्ची अभि-व्यक्ति दी तो भाषा और शिल्प अपने आप बदल जायेंगे। भाषा और शिल्प भावों के अनुचर हैं, निर्देशक नहीं। इसीलिए वैज्ञानिकता, यांत्रिकता, मृत्यु-त्रास, हीनता, आत्मपीड़ा, अनास्था और आत्म-विश्वास आदि का उन्होंने नए शब्द प्रतीकों में वर्णन नहीं किया बल्कि व्यक्ति के अन्तरंग में पहुँच कर उस विशिष्ट तड़पन और कसक को समझने का प्रयास किया। अनुभूतियों का चित्रण किया। व्यक्ति, भावना, जीवनों के साथ नए मूल्यों की स्थापना की चेष्टायें की गईं। प्रयोगवादियों द्वारा निर्मित हीन व्यक्ति की जड़ता को हटाकर उसे प्राणवान बनाने का प्रयास किया गया।

उन्होंने भाषा को सहजता प्रदान की। इनमें आक्रोश है, जटिलताओं से जूझने का संकल्प है। नए भावों-शिल्पों और भाषा की जीवन्तता प्रभावकारिणी है। वे पुरानी परम्पराओं और मूल्यों को यथार्थ रूप में अस्वीकारते हैं। उनका कहना है कि प्रयोगवादी परम्पराओं और मर्यादाओं को नकार कर भी उन्हीं परम्पराओं और मर्यादाओं से बँधे रहे। वर्जनाओं को तोड़ नहीं सके जबकि नया कवि सब कुछ एक झटके में तोड़ देना चाहता है। वह समाज से अधिक जुड़ा प्रतीत होता है। इसका आशय यह नहीं है कि इनकी सारी की सारी उपलब्धियाँ शाश्वत उपलब्धियाँ हैं, इनमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। इन नए कवियों ने भी जिस अनास्था, आत्म-पीड़न, अविश्वास, मृत्यु-त्रास की बात की उससे निराशा का वातावरण निर्मित हुआ। जिस व्यक्ति को प्राणवान बनाने का दावा किया उसे ही उन्होंने जड़वत चित्रित किया। मशीनों की धड़कने उन्होंने व्यक्ति-हृदय में सुनी। जिस आक्रोश को वे लेकर उठे थे, वे अन्ततः आत्मलीन होकर रह गए। उन्होंने सामाजिक होने की बातें अवश्य कीं लेकिन बौद्धिकता और भाषा की जटिलता तथा बिम्बों एवं प्रतीकों को जिस रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया उससे न केवल शिल्प जटिल हुआ बल्कि

भाव-व्यंजनायें और अनुभूतियाँ भी जटिल हो गईं। सम्प्रेषणीयता का युग समाप्त हो गया। जब लोगों ने इस जटिलता, क्लिष्टता और आत्म-हीन विकृति की शिकायत की तो उन्होंने घोषणा की कि इसमें हमारा कोई दोष नहीं। भाषा और भावों, बिम्बों और प्रतीकों की समझ पाठक में नहीं है तो उसमें कवि कुछ भी नहीं कर सकता। क्योंकि शब्दकोष में वे सारे शब्द उपलब्ध हैं। उन्होंने व्याख्या प्रधान धारा स्वीकारी। जब आलोचकों ने उनकी इन त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित किया तो उनका स्पष्टीकरण था—हमारी अर्थ-भूमियों को आलोचक पकड़ने में समर्थ नहीं हैं। वस्तुतः हमारी कवितायें क्रान्तिकारी और युग-जीवन-दर्शक कविताएँ हैं, इसीलिए अपनी व्याख्यायें हम स्वयं प्रस्तुत करते हैं।

उनका यह स्पष्टीकरण उनकी कमजोरियों की रक्षा न कर सका। वे अपनी भाषा, भाव, प्रकृति और व्यंजनाओं में लगातार दुहराने लगे। जिस नवीन भाव को लेकर वे तीव्रगति से आगे बढ़े थे वह गति बहुत दिनों तक नवीन न रह सकी। उनका ध्यान जीवन के एकांगी पक्ष पर टिका रह गया। धर्म, साहित्य, संस्कृति, परम्परा, प्रेम, सौंदर्य सब विकृति-प्रधान हो उठे। नये कवियों ने सामाजिकता का संकल्प तो लिया किन्तु वे अधिक दिनों तक समाज के सामान्य वर्ग के साथ मिले न रह सके। जिस यथार्थ जीवन को वे व्यक्त करना चाहते थे उसमें कृत्रिमता की दुर्गन्धि आ गई और कवियों का समाज में एक अलग विशिष्ट वर्ग बनकर रह गया जो काफी हाउस की चर्चाओं में ही काव्य की अनुभूतियाँ प्राप्त करते थे।

आज नारेबाजी का युग है। हर दिन साहित्य की प्रवृत्तियाँ बदली हुई घोषित की जा रही हैं। कहा तो यह जाता है कि नई कविता जो सन् ६० में मृत घोषित कर दी गई थी उसके बाद लगभग ढाई दर्जन से ऊपर काव्य-प्रवृत्तियों को पार कर दिया गया है, जिसकी गणना डा० जगदीश गुप्त ने की है। विद्रोही, भूखी, बीटनिक, ताजी, बासी, असली-

नकली आदि अनेक नामों को तोड़कर आज कविता अकविता के द्वार पर भटक रही है।

इन अकवियों की दृष्टि में नये कवि नितान्त बूर्जुआ हैं जो सामाजिकता और मूल्यों की बात करते हैं, जीवन-जगत के चक्कर में हैं। अकवि अपने को जन-जीवन से अलग नितान्त असामाजिक बतलाते हैं। उनकी दृष्टि में सारा जीवन विसंगतियों और विकृतियों से पूर्ण है। वे वर्जनाओं के मुखापेक्षी नहीं। हर बात को उघारकर देखने के पक्षपाती हैं। हर चीज़ की नाप-तौल करने वाले हैं। दुर्गन्धि में साँस लेने के अभ्यासी दुर्गन्धि को ही सब कुछ मानते हैं। वे सब कुछ अस्वीकार करते हैं। उन्हें किसी से लेना-देना नहीं, लिखने का ज़बरन प्रयास नहीं, जो सहज में लिख जाय, रचना है। इसका कारण यह है कि वे परम्परा, संस्कृति-ज्ञान, दायित्व और सामाजिकता से एकदम अपरिचित हैं और इस कमज़ोरी, हीनता को दबाने के लिए ही इस प्रकार का नारा बुलन्द करते हैं।

हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि जीवन, परिस्थितियाँ, मान्यताएँ, मूल्य बदल रहे हैं। हमें उन बदलते मूल्यों के बीच का जीवन अंकित करना है न कि असामाजिकता और अनुत्तरदायित्व की घोषणा। इसे मैं सबसे बड़ा पलायनवाद मानता हूँ। हमें इन विकृत व्यंजनाओं और विसंगतिपूर्ण, कृत्रिम, अनुत्तरदायित्वों से ग्रसित कवियों और कविताओं से बचकर एक नयी दिशा की तलाश करनी होगी जो युग-जीवन को ग्रहण करने में सक्षम हो। इस अकविता ने उस नयी कविता की महत्ता अपने आप बढ़ा दी जिसे लोग मृत घोषित कर चुके थे। नयी कविता की उपलब्धियाँ इससे हर प्रकार से सार्थक हैं। अनेक कमजोरियों के बाद भी उसकी उपलब्धियों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन सब स्थितियों के बीच एक नया स्वर कभी-कभी सुन पड़ता है, जिसमें जिम्मेदारी वहन करने की आस्था है। देखना यह है कि बाधाओं में उलझकर वह भी कहीं किसी नए पलायनवाद का शिकार न बनने पाये।

साठोत्तरी पीढ़ी : 'अकविता' की गूँज

साहित्य में हर नए स्वर का खुले हृदय से स्वागत होना चाहिए—क्योंकि हर नवीन स्वर साहित्य को नयी गंध, नयी गूँज-अनुगूँज से गुंजरित कर उसमें आकर्षण की एक नयी कड़ी जोड़ देता है। वह आकर्षण चाहे 'शिव' पक्ष का हो या 'अशिव' पक्ष का। यह उस नयी पीढ़ी की क्षमता, प्रभाव और दृष्टि पर निर्भर है। लेकिन इस बात का ध्यान रखना होगा कि समाज किसी भी नयी-पुरानी वस्तु का मूल्यांकन अपने पर पड़े प्रभाव के आधार पर ही करेगी। वह मूल्यांकन उस तथ्य का मापदंड होगा कि उस पीढ़ी ने समाज को किस रूप में, किस सीमा-गहराई तक प्रभावित-उद्वेलित किया है। समाज के साथ पीढ़ी की निकटता किस कोण और बिन्दु पर है।

अभी तक होता यह आया था कि पहिले बिना किसी प्रतिबद्धता के सहज अनुभूति और रागात्मकता के आधार पर संवेदनशील कवि अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करते थे और उन अभिव्यक्ति-विशिष्टताओं के आधार पर मान्यताओं के साँचे इसलिए तैयार कर लिए जाते थे ताकि

मूल्यांकन करने-समझने और समझाने में असुविधा न हो। इससे न तो अभिव्यक्तिकर्ता को किसी प्रकार सिर खपाने की आवश्यकता थी और न आलोचक, समीक्षक अथवा जिज्ञासु पाठक को किसी प्रकार की परेशानी थी। उपलब्ध तथ्य-विशिष्टताओं का मूल्यांकन तो ईमानदारी की दृष्टि है। परन्तु आजकल पहले साँचे, घोषणाएँ और प्रतिबद्धताएँ तैयार कर ली जाती हैं, फिर रचनाओं का स्वरूप बनाया जाता है। इस बात का निरन्तर प्रयास किया जाता है कि उनकी सर्जना उस पूर्व रचित ढाँचे में किसी प्रकार 'फिट' बैठ जाये—इससे तीन प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं—(१) स्वयं लेखक अपनी सहज अनुभूत अभिव्यक्ति न करके अपने को और अपनी अयथार्थ अनुभूति को उस सांचे में ढालने का प्रयास करते हुए अनभोगे यथार्थ में लेबिल लगाकर विशुद्ध यथार्थ की अभिव्यक्ति की घोषणा करता है। फिर बाद में स्वयं देखता है कि वस्तुतः वह अपने को 'फिट' कर सका है कि नहीं। यदि कुछ गड़बड़ है तो व्याख्या के द्वारा उसका औचित्य प्रतिपादित करना वह अपना साहित्य-धर्म समझता है। यदि अपने गढ़े साँचे हों तो शायद उतनी परेशानी न भी हो क्योंकि हम उनके स्वरूप को समझ सकते हैं। जब साँचा ही उधार लिया हो, जो अपनी भूमि और रसायन के अनुकूल न बैठता हो, उसमें अपनी भावनाओं को ढालकर यथार्थ की दुंदुभी बजाना और अपनी कुंठाग्रस्त विवशताओं को जीवन की अनिवार्यता बतलाकर 'वाहवाही' लूटने और 'मसीहा बनने' की विडम्बना करना केवल अपने को, समाज को, सामाजिकों को धोखा देने के अतिरिक्त कुछ न होगा, जहाँ भ्रम-जाल है, यथार्थ नहीं। (२) कठिनाई होगी स्वयं समीक्षक या आलोचक को। वह उपलब्ध रचनाओं को जब अपने देश की भूमि और रसायन के संदर्भ में देखता है तो कोई साम्य दिखाई नहीं पड़ता। जिये गये जीवन और अंकित किये गये जीवन में आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई देता है। जब वह उन रचनाओं के मूल्यांकन के लिए गंभीर अध्ययन के बाद

कसौटियों का निर्माण करना चाहता है तो उसे लेखक गलत और अज्ञानी कहकर अस्वीकार कर देते हैं। समझदार को जिज्ञासा होती है इस बात की कि आखिर इसमें दोष कहाँ है ? वह अपनी जिज्ञासा लिए जब सर्जक के पास जाता है तो उसे बड़ी निराशा होती है यह देखकर कि वह उधार लिए अनसमझे साँचे को तो दिखलाता है, लेकिन यह देखने का प्रयास नहीं करता कि उसने साँचे के स्वरूप-संदर्भ का निर्वाह कितना किया है, और वह साँचा उसके जीवन से संयोजित है अथवा नहीं। अपनी सर्जना में वह विवाद स्वीकार नहीं करता। आलोचक की जिज्ञासा शांत हो नहीं पाती। वह प्रयास करता है उन कारणों को समझाने का और अनन्तः उसे कहना पड़ता है कि उसमें यथार्थ की सुगंधि कम अयथार्थ और उधार लिए अनजिए भावों की दुर्गंधि अधिक है। उसे कोई भी पीढ़ी सहन क्यों करेगी। उनके लिए वह प्रतिष्ठा का प्रश्न होगा। तब वे जबर्दस्ती अपनी बनाई व्याख्या की कड़वी घूँटी पिलाने से नहीं चूकते। भले ही वह गले उतरे या नहीं। उन्हें भ्रम होता है कि वे बहुत उच्चस्थ हैं क्योंकि उनकी बात समझदार समालोचक भी समझ नहीं पाते। फिर वे पचंम-स्वर में घोषणा कैसे करेंगे कि हमारी इन अद्वितीय कृतियों को समझने के लिए व्यापक और गहरे दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जो इन देशी आलोचकों के पास नहीं है। इसीलिए हम लिखते कम हैं, व्याख्या अधिक करते हैं। यह हमारी विवशता है। उनका यह भी दावा है कि पुराने मानदंड टूट चुके, परम्परायें खंडित हो गईं, मूल्य धराशायी हो गये, मानव की मूर्ति और तत्वों का विनाश हो गया। लेकिन वे भूल जाते हैं कि सृष्टि के मूल तत्व वही हैं, मानदंड, परम्परायें और मूल्य न टूटे, न खंडित हुए, न धराशायी हुए—वे वहीं है—युगानुकूल परिवर्तन अवश्य हुए हैं। परन्तु वे परिवर्तन सामाजिकों की समझ से परे नहीं हैं। क्योंकि आखिर इन परिवर्तित मूल्यों मानदंडों के साथ वे (सामाजिक) भी तो परिवर्तित होते चले आ रहे हैं। परम्परायें मानदंड और मूल्य मानव

के होते हैं, इतर प्राणियों के नहीं। जब यह बात है, तब तो निश्चित ही वर्तमान सामाजिक इतने अज्ञानी नहीं हैं कि वे इस युग की बात न समझें। आखिर नये मूल्यों को समझने, परम्पराओं को तोड़ने और मानदंडों को खंडित करने का दावा करने वाले भी तो उन्हीं वर्तमान सामाजिकों में से हैं। फिर वे यह क्यों मान लेते हैं कि प्रज्ञा और प्रतिभा के नियामक तथा बोधक केवल वे ही हैं और सब परे हैं! स्पष्ट ही यह उनका अहं है, जिसके बल पर वे दूसरों से विशिष्ट बनने का असफल प्रयास करते हैं। जब वे इसमें सफल नहीं होते तब उनमें खीझ और अप्रष्ठिा तथा बौनेपन की भावना आती है, जो इस प्रकार की सर्जना-रचना का मूल कारण है। (३) तीसरी कठिनाई है समाज के साहित्य-प्रेमी जिज्ञासु पाठकों को, जो बेचारे किसी भी घाट की ओर लगने का मार्ग नहीं पाते। वे इस अनजाने सागर में हक्के-बक्के होकर खड़े हैं। न तो उन्होंने वह उधार लिया विदेशी साँचा देखा और न ही वह जीवन जिया, जिसकी अभिव्यक्ति रचनाओं में है। वे अपने साथ उनका तालमेल नहीं बिठाल पाते। सबसे बड़ी कठिनाई तो तब होती है जब रचनायें कुछ कहती हैं और रचनाकारों की व्याख्यायें किसी और तथ्य को उजागर करती हैं। पाठक वर्ग उस समय तिलमिला जाता है जब उन्हें उच्च प्रतिभा (?) के दावेदार लेखक बुर्जुआ और पिछड़ा करार देते हैं। वे भूल जाते हैं कि उन्हें इन पाठकों के निकट रहना है। वे ही सच्चे मूल्यांकन करने वाले हैं। सर्जना की सार्थकता और व्यापकता तो इसी में है कि हर पाठक उसमें अपनी भावनाओं की झलक देखे, अपने से ताल-मेल बिठाकर आनन्द या विशिष्ट प्रकार की अनुभूति करे। जो रचना पाठक को किसी प्रकार नहीं छू पाती, वह रचना अच्छी रचना की श्रेणी में गिनी ही नहीं जा सकती।

आज की हर नयी पीढ़ी अपने को सबसे अधिक जागरूक, समर्थ, साहसी और जीवन की पारखी कहकर अपने से पूर्व को रोमानी, असमर्थ

और अज्ञानी मानती है। वह यह भी कहने से नहीं चूकती कि वे पूर्व पीढ़ी पुरानी मान्यताओं की लाश लेकर समाज और साहित्य-क्षेत्र में ढोंग के आधार पर केवल दुर्गंधि और मृतजीवन का प्रचार करती थी। अब वे नयी संजीवनी लेकर आये हैं, जिसमें मुर्दों का स्थान नहीं है। मुर्दे फेंक दिये गये हैं और वे कभी मुर्दे हो नहीं सकते। सारा जीवन बदल गया, युग बदल गया, सब कुछ आज ही आसमान से उनके साथ टपक कर आया है। अब वे सब उलट-पुलट कर देंगे। पूर्ववर्ती रचनाकारों ने भी इसी प्रकार के दावे प्रस्तुत किये थे।

नयी कविता के तारसप्तकी धुरंधर अपने तारों को इतने जोर से बजाने लगे थे कि और कुछ सुनायी ही नहीं पड़ रहा था। उन्होंने सप्तमस्वर छेड़कर घोषणा की—आज तक के कवि कल्पना की डोर के सहारे जीवन की यथार्थ भूमि छोड़कर आकाश में विचरण करते रहे। उनकी इस रोमानी प्रवृत्ति ने साहित्य का बड़ा सत्यानाश किया है। वहाँ नाटकीय आँसू हैं, निर्गंध पुष्प है, कृत्रिम सज्जा है, लेकिन जीवन नहीं है। जीवन लाने वाले वे हैं। वे ही सारी यन्त्रणायें भोग रहे हैं। विज्ञान के कारण मृत्यु-त्रास से ठठरीमात्र रह गये नये-नये कवि जीवन की यातनाओं से त्रस्त हैं, मृत्यु की विभीषिका उन्हें खाये जा रही है। नागरीय—धुयें ने उनकी आँखें कड़ुवाहट और आँसुओं से भर दी हैं जिससे स्पष्ट दिखाई नहीं देता। अब वे गाँवों के खुले वातावरण में आकर पहली बार-साफ-साफ देख रहे हैं। उनकी आस्था का संबल छूट गया, अनास्था का परिवेश उन्हें उस ओर जाने नहीं देता। आत्मा की पुकार सुनाई नहीं देती। इसलिए आत्म-विघटन और आत्म-स्खलन ही उन्हें सही प्रतीत हो रहा है। मानव-जीवन को सम्पूर्णता प्रदान करने वाली नारी को अभी तक बाहरी तड़क-भड़क में रखकर केवल दूर से निहारा गया था, अब वे निकट आकर उसकी इंच-इंच नाप जोख कर रहे हैं। वे वर्तमान चकाचौंध से इतने अंधे हो गए हैं कि उन्हें परम्परायें

दिखाई नहीं देतीं। उन्हें मूल्यों का आभास नहीं होता। मान्यताओं की आवश्यकता नहीं है। उनके दुर्बल कन्धों पर अभी तक की अबोध पूर्व पीढ़ी ने नाजायज रूप से इतना बड़ा भार रख दिया है कि उनके कन्धे पैदा होने के पूर्व ही जर्जर हो गए हैं, इसलिए वे समाज के प्रति जरा भी जिम्मेदार नहीं हैं। चूँकि सारा समाज भ्रष्टाचारी है, उनका हाड़-माँस भ्रष्टाचार से बना है, इसलिए वे नैतिकता जैसी निरर्थक वस्तु को मानने के लिए बाध्य नहीं हैं। ऐसी ही और इस प्रकार की रोज नई-नई बातें साहित्य के हर पन्ने में लम्बे अर्से तक देखने को मिलती रहीं—आज भी मिल रही हैं। लेकिन सप्तकी वीणा के तार उच्च-स्वर में और बेरहमी से बजाए जाने के कारण कुछ नयी राग-रागिनियों के देने के बावजूद भी अधिक दिन तक बजते न रहे सके। कुछ तार टूट गए और कुछ लोगों ने पुरानी वीणा में नए तार लगवाकर स्वर बदलने का प्रयास किया।

सन् ६० के बाद तो नहीं, लेकिन इधर कुछ दिनों से यह स्वर सुनाई पड़ रहा है कि नयी कविता की कब्र ६० में खोद दी गई और ६० के बाद साठोत्तरी पीढ़ी ने स्थान बना लिया है। यह बात तब कही जा रही है जब दबे-दबे ६५ के बाद की पीढ़ी भी सिर उठाने लगी है। अभी साठोत्तरी पीढ़ी का रूप स्पष्ट नहीं है। कीचड़ उछल रहा है, ऐसा न हो कि पानी की निर्मलता की प्रतीक्षा में वहाँ सब कुछ सूख जाय। साठ से पैंसठ के बीच—जहाँ नयी पीढ़ी के उठने का दावा किया जाता है—वहाँ कई और स्वर सुनाई पड़े। यह पश्चिम की कृपा है। उनका ध्येय है कि हम नंगे रहेंगे और तुम्हें भी नंगे रहने के लिए विवश कर देंगे। लेकिन इनमें वह साहस नहीं है कि जिसकी नकल कर रहे हैं उनका सा निर्वाह कर सकें। वे अभी प्रारम्भिक दशा में ही थे कि स्वर दिशाओं में डूब गया। इस बात का ध्यान रखना होगा कि यह पीढ़ी भी अपने लिए वही दावा करती है जो नए कवियों ने किये थे। वे भी सारी परम्पराओं और मान्यताओं को नकारते हैं और वर्तमान जीवन के सर्वा-

धिक निकट होने का दावा करते हैं।

भूखी पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी अपना स्थान ठीक से बना नहीं सकी लेकिन इस समय गत कुछ महीनों से जो सबसे बुलन्द स्वर है 'अकविता' या 'अस्वीकृत कविता' वालों का। मेरा ख्याल है कि सन् ६० के बाद जिस नयी पीढ़ी के आगमन की बात की जाती है उसमें विद्रोही पीढ़ी, भूखी पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी, अकविता और अस्वीकृत कविता वालों की भी पीढ़ी सम्मिलित है। क्योंकि इन सभी का रूप, सभी की अभिव्यक्ति, सभी के दावे, सभी की भावनाएँ प्रायः एक सी ही हैं।

मैंने जैसे पहिले ही कहा कि हर नयी पीढ़ी अपनी पूर्व पीढ़ी को नकारती है। इस पीढ़ी ने भी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी को नकार कर तिरस्कृत किया उनके भी वही दावे हैं कि नयी कविता वालों की प्रतिभा समाप्त हो चुकी, वे दोहरा रहे हैं। वे जीवन से दूर केवल काफी हाउसों और चर्चाओं तक ही अपने को सीमित कर सके।

यदि वस्तुतः ये बातें हैं तो हमें उनकी तरोताजगी और दिलेरी की प्रशंसा करनी होगी। यदि केवल नारेबाजी न होकर यथार्थ में कुछ ऐसा है तो यह साहित्य के लिए स्वर्ण-युग होगा। परन्तु जो दावा छायावादियों के विरुद्ध नये कवियों का था, वही दावा इस पीढ़ी का नये कवियों के विरुद्ध है। सबसे बड़ी आश्चर्यजनक बात तो यह है कि कुछ तारसप्तकीय युग के लोगों ने भी अकविता या अस्वीकृत कविता के आविष्कर्ता और पुरोधा बनने के लिए जोरों से गलेबाजी प्रारम्भ की है। हमें तरस आता है इनकी इस गति पर। वे सोचते हैं कि यदि साठोत्तरी पीढ़ी ऊपर उठ गई तो उनका क्या होगा। इसलिए वे अकविता या अस्वीकृति कविता के द्वार से सबसे आगे होकर और सर्वाधिक बुर्जुग तथा समझदार होने का दावा करके झंडा पकड़ने का प्रयास कर रहे हैं।

इस प्रकार के नित नए प्रयोग करने वाले गैरईमानदार और अव-

सर परस्त लोग ही होते हैं। अकविता अथवा अस्वीकृत कविता में नए पुराने सभी प्रकार के लोग हैं। परन्तु साठोत्तरी पीढ़ी के नाम से जो घोषणाएँ और दावे किये गए हैं उसमें सभी नवीन और सही नहीं हैं। उसमें जितनी ताजगी और नयापन तथा वास्तविकता है उसका हम स्वागत करते हैं—परन्तु अति यथार्थ के नाम पर जहाँ कमर के नीचे के कपड़े उतार फेंकने की बात है अथवा जहाँ एक पर्त चमड़ी निकालकर खड़े होने की बात है, उसे सत्साहित्य में स्वीकार नहीं किया जा सकता। बिना इनके भी इसकी अभिव्यक्ति की जा सकती है, जिसे वे सामने लाना चाहते हैं। लेकिन अतियथार्थता का दावा इस रूप में तभी किया जाता है जब कवि-कला, कवि-सामर्थ्य और कवि-प्रतिभा की शक्ति क्षीण हो जाती है, और वे पद्य की गरिमा के साथ कोई बात कह पाने के लायक नहीं रह जाते। अकविता अथवा अस्वीकृत कविता जिस चौंकाने वाले रूप को लेकर सामने आई है वह स्वीकार्य न होगा। केवल अश्लील व्यंजना की ताजगी ही यदि इसकी उपलब्धियाँ हैं, तो वह श्रेयस्कर नहीं है। यदि पीढ़ी का यह दावा है कि वे उन बातों को इसलिए खोलकर रख रहे हैं क्योंकि वे भीतर ही भीतर उस पीड़ा से त्रस्त हैं, घुटे जा रहे हैं और वे अधिक दिनों तक यह घुटन स्वीकार नहीं करेंगे। वे उसका विरोध करते हैं, उसके प्रति क्रांति करना चाहते हैं, जिससे समाज त्रस्त और कंठाग्रस्त है। वे कुंठा नहीं चाहते। यदि उनका विरोध, उनकी क्रान्ति सही है, तो उन्हें ऐसी रचनाएँ करनी चाहिए जिनसे हर पाठक प्रभावित होकर विरोध और क्रान्ति के लिए सम्बद्ध हो जाय। परन्तु हो यह रहा है कि उन रचनाओं से क्रांति और विरोध की स्फूर्ति तो नहीं मिलती उलटे उत्तेजित भावनाएँ विकृति की ओर जाने लगती हैं। यदि ऐसी विरोधात्मक स्थिति है, तो वह पीढ़ी का सामर्थ्य नहीं बल्कि उसकी दुर्बलता होगी। हम यहाँ देखेंगे कि अकविता या अस्वीकृति कविता वालों की रचनाएँ और उनके दावे सर्वथा विपरीत दिशा की ओर जा रहे हैं।

जिन लोगों का यह दावा है कि कला में श्लील-अश्लील कुछ नहीं होता उनसे मेरा निवेदन है कि उनका इन कविताओं के बारे में जो अभिमत हो स्पष्ट लिखें। किसी के ऊपर दुर्बलता का उलटे आरोप लगाकर कोई भी अपनी कमजोरी से मुक्त नहीं हो सकता। इस प्रकार की बात नए कवियों ने भी की थी।

पहिले हमें अकविता और अस्वीकृत कविता का धुँधलका हटाकर नए परिवेश के सर्वमान्य धरातल पर अद्यतन कविताओं का मूल्यांकन अपेक्षित होगा। जैसा कि मैंने ऊपर कहा—इस पीढ़ी के जितने भी स्वर हैं वे सब प्रायः एक हैं—विद्रोही, भूखी, क्रुद्ध भी वही कहते और करना चाहते हैं जो अस्वीकृत वाले चाहते हैं। 'अकविता' की अस्वीकृत कविता के पक्षधर कुछ शाब्दिक परिवर्तनों के साथ अलग परिभाषाएँ देने की चेष्टा कर रहे हैं—परन्तु इतमें एक भी बात में मूलभूत अन्तर परिलक्षित नहीं होता, अतः हम इन्हें एक मानकर ही चलेंगे।

अभी तक 'अस्त्रीकृत कविता' के एक भी संकलन देखने में नहीं आए केवल 'अकविता' नामक मासिक पत्रिका के दर्शन हुए। श्रीराम शुक्ल की २१ अस्वीकृत कविताएँ अवश्य प्रकाशित हुई है—उन्हें ही हम प्रथम संकलन स्वीकारें और प्रतिनिधि रचनाएँ मान लें तो हमें एक अन्दाज लग सकता है। वे घोषणा करते हैं—'रूपक बाँधना अपने का मुर्दा बनाकर पाँव के अंगूठों को बाँधना है, अलंकारिक भाषा का प्रयोग मुखौटे ओढ़ना है और रुचि का नियमबद्ध शैली को अपनाना घड़े में सिर फँसा देना है। अस्त्रीकृत कविता न तो मुर्दा है, न मुखौटे आढे हैं और न घड़े में सिर फँसाये हैं। यहां तक कि उसने अपनी देह की चमड़ा छाल डाली है और खुली हड्डियों, रक्ताविष्ट मांस के साथ उपस्थित हो गयी है।' स्पष्ट है कि काव्य के सौंदर्यबोधक तथ्यों का बहिष्कार तो इन कवियों ने किया ही, साथ ही घृणा और अरुचि का वातावरण भी तैयार कर दिया। खुली हड्डियों और रक्ताविष्ट मांस पिंड में कोई आकर्षण नहीं होता, मक्खियों

में आवृत उस रूप से घृणा ही नहीं बल्कि घिन लगती है। हमें जीवन से घिन नहीं, लगाव पैदा करना है। संघर्षों से जूझने का अर्थ घृणा करना नहीं, बल्कि अन्तर तक बैठकर संघर्षो की जड़ों से मुकाबला करना है। इस प्रकार की छीली हुई देहों से न जाने ये कवि कैसी प्रेरणा और चेतना ग्रहण कर पाते हैं। यह भी एक प्रकार का पलायन होगा। नंगा-पन और इस छीली देह में अन्तर है। नंगेपन में केवल नंगापन प्रदर्शित करना होगा, चमड़ी को छीलना नहीं या फिर सत्य कथन के लिए हृदय खोलकर रखने की बात होगी।

वे आगे सगर्व घोषित करते हैं—'श्लीलता और झिझक को दूर झटककर सामने आई है अस्वीकृत कविता।' इसे यदि हम अपने शब्दों में कहें तो इस प्रकार भी कह सकते हैं कि अस्वीकृत कविता केवल अश्ली-लता को लेकर सामने उपस्थित है—तो संभवत: गलत न होगा। वे विचित्र कवि हैं, जो कवि बनने के लिए कविता लिखकर और सप्रयास योजना-बद्ध ढंग से प्रतिष्ठित होने की लालसा के साथ प्रकाशित करवा कर भी अपनी उस चोर लालसा को नकार कर कहने का दुस्साहस करते हैं कि उनमें कवि कहलाने की लालसा नहीं है। यदि यह बात नहीं है तो आप लिखिये, इस बात की परवाह क्यों करते हैं कि कोई आपके बारे में क्या कहता है।

श्रीराम शुक्ल के संग्रह 'इक्कीसवाँ अंधकार' में उस पक्ष का ही आधिक्य है जो जीवन को अंधकार की गर्त में डालता है। इस दृष्टि से शीर्षक सर्वथा उपयुक्त कहा जायेगा। अब हम कुछ उद्धरणों के साथ उनके भावों, चित्रों के नए और ताजेपन की परीक्षा करेंगे —

(१) साबुन की टिकिया में
युवती की तसवीर
मानों हम जाँघों के बीच
युवती को घिस रहे हैं।

(२) पूरी की पूरी सृष्टि
बीमार योनि की तरह है
जिस पर पेड़ पौधे और हम सब
फुंसियों की तरह उग आए हैं।

यहाँ आपने इस समर्थ (!) कवि के चित्र और उपमा के उद्धरण देखे, अब आप उनके 'मीठे सपने' की अनुभूति का अनुमान इन शब्दों में लगाएँ :—

मैं सोया था
काम-ज्वर ने जन्म ले लिया
मैं सपने में सोया
तब तक काम ज्वर बह
पत्थर-सी जाँघों पर बहने लगा उमड़कर।
ऐसा लगा, सर्प तो शायद सुस्ताने है लगा
जाँघ पर सरक रही है केंचुल केवल
आँखें खुली अचानक
देखा अंधकार था।

डा० उदयभान मिश्र जिन्होंने 'नवगीत' का जोरदार समर्थन किया था, अब अकविता की प्रशंसा में भी लिखने लगे हैं। उनके अनुसार 'अकविता कविता का धनात्मक पक्ष है—कविता की सामर्थ्य की चरम सीमा—कविता के लिए चुनौती है।' उनकी बात को हम ऊपर दिये गए उद्धरणों को संदर्भ में ही सही मान सकते हैं, क्योंकि अकविता की ताजगी जो सर्वाधिक मुखर और स्पष्ट है बह है वही भूखी और विद्रोही पीढ़ी वाला नंगापन। यदि यही बात थी तो हम भूखी और विद्रोही को अलग से क्यों न स्वीकार सके ? उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे नाम से समेट कर क्यों ले चल रहे हैं ? क्या इनमें क्रुद्ध पीढ़ी का वही खोखला और ऋणात्मक आक्रोश नहीं है ? श्री मिश्रजी का दावा है कि अकविता

'फ़ेक कविकाओं' को फेंक बाहर करेगी, कही इसका उलटा तो नहीं हो रहा है ? ऐसा न हो कि भाई शिव मंगल—जो स्वयं ताजे कवि हैं—के शब्द ही सही निकलें—'आज की स्थति यह कि खराब कविताओं या अकतिवाओं को भी अकविता कहकर छापा जाने लगा है।' यही फैशन-परस्ती है। यदि यह हाल रहा तो अभी प्रारम्भ है, बाद में क्या दुर्दशा होगी ? विचारणीय है।

बीस वर्ष पहिले के नए कवियों की घोषणाओं को नए शब्दों के द्वारा अपनी कलम से लिखकर अपनी नवीन घोषणा बतलाने वाले इन कवियों ने कभी नहीं सोचा कि हमारे लेखन में जिस प्रकार नवीनता नहीं है, उसी प्रकार घोषणायें भी दोहरायी जा रही हैं। वे कहते हैं—'आज का कवि परम्परागत रूढ़ियों तथा संस्कारों के प्रति विक्षुब्ध है और उसका काव्यात्मक संवेदन भी उसी अनुपात में परम्परा से मुक्त भी है और निःसंग भी। परिवर्तित सौंदर्य बोध के कारण आज का कवि पिछली परम्पराओं को नकार कर अपना सम्पूर्ण तथा पृथक मार्ग खोजने में रत है।' यही बात 'तारसप्तकीय' कवि श्रीमाथुर जी भी कहते हैं कि हमने यही किया था, यही कहा था—'कविता की जिस चेतना का प्रादुर्भाव सन् १६३६-४० में हुआ था, उसने पिछली समस्त मान्यताओं को बदल डाला और एक अभूतपूर्व बौद्धिक नवोन्मेष को जन्म दिया। पूरी की पूरी मर्यादा परिधियाँ प्रतिस्थापित कर दी गईं। इतनी बड़ी तात्विक क्रांति हिन्दी कविता में कभी नहीं आई थी। काव्यगत सौंदर्य तत्व को भावस्तर पर ग्रहण किया गया और उसे मात्र सुन्दरता का पर्याय न समझ कर असुन्दर की मर्मानुभूति को भी सौंदर्य बोध के अन्तर्गत रखा गया था। छन्द के शृङ्खलित आरोप को भंगकर दिया गया तथा छंदमुक्त स्थिति में आंतरिक लयान्विति को भावना की सहज, अकृत्रिम अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयुक्त माना गया।' इन दो वक्तव्यों में प्रायः साम्य है। परम्पराओं को तोड़ने, आस्थाओं को बदलने, दृष्टिकोण के

परिवर्तित होने, सौन्दर्य बोध के नये ढंग से स्वीकारने की जो बातें आज अकविता के चेतन कवि (यदि वे कवि कहलाने के लिए तैयार हों तो) कह रहे हैं, उसी को बीस वर्ष पूर्व नये कवि कहते थे और आज भी दुहरा रहे हैं। तब परिवर्तन कहाँ है ? क्या परिवर्तन केवल नाम परिवर्तन में है ? यह नाम परिवर्तन भी अभी अस्पष्ट स्थिति में है। उसे स्पष्ट जीवन मिलने में समय लगेगा। साठोत्तरी कविता में कुछ सहयोगी तो यह भी स्वीकारने के लिए तैयार नहीं हैं कि कविता में कोई विशेष परिवर्तन हुआ है। यदि हुआ भी है तो इतना नहीं हुआ कि उसे नए नाम से संबोधित किया जा सके। उनके मतानुसार...'यह बात बहुत जोर देकर कही जा रही है कि सन् ६० के बाद कविता बदल गयी। वैसे यह स्वीकार किया जा सकता है कि इतनी नहीं बदली कि उसे नया नाम दिया जा सके और नया नाम दिया जाना जरूरी हो तो उसके लिए अभी प्रतिक्षा करनी होगी।' नए कवियों की सभी बातों को नये सिरे से दुहराने वाले ये अकवि कुछ हठवादी भी हैं। जैसे हर नवीन पीढ़ी हठवादी होती है। परन्तु उनका रुख कुछ अधिक कठोर प्रतीत होता है। विमल पाण्डेय, रमेशदत्त मानव, श्याम परमार, शरद आदि किसी नवीन तथ्य की स्पष्ट स्थापना नहीं करते। बल्कि कभी कभी तो विरोधी भावनाएँ व्यक्त करते है—जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि अभी उनके मस्तिष्क में भी रूप और वातावरण एकदम स्पष्ट नहीं है। कभी वे विरोध की बात कहते हैं और कभी कहते हैं कि विरोध से उनका कोई मतलब नहीं है। श्याम परमार यही कहकर सिर्फ यह और जोड़ देते हैं कि उनके द्वारा अन्वेषित यह 'अकविता' तारसप्तकीय 'कविता से कुछ अलग प्रकार का' 'ठेका' बजा रही है। (जिसका बाजा तो वही है लेकिन बजाने वाले दूसरे और अनभ्यस्त हाथ होने से अनट्रेंड स्वर सुनाई पड़ते हैं) श्याम परमार एक बात और कहते हैं कि उनकी 'अकविता' वह सब कुछ देखने की कोशिश कर रही है जो अनावृत है, कुरूप है और विकृत

संबंधों की भूमिका पर खड़ा है।' वस्तुतः अकविता और अकविताकारों का कविकार्य यहीं आकर सिमट गया है। जिसके उदाहरण 'अकविता' से लिए जा सकते हैं :

···और हर खिड़की में बैठी है
नंगी नहाती हुई लड़की
हर लड़की पानी के बीच एक पानी का दरख्त है
वह बूढ़ा बरगद जड़ों में स्खलित होता है।...
पानी के बीच अदेह लोथड़ों को ठेलता हुआ
बसन्त की सुरंग समाता हूँ
बूढ़ा बरगद बाहर है बहुत बाहर
जड़ों को हथेलियों में निवीर्य होता हुआ
और मैं भीतर हूँ बहुत भीतर
लड़कियों और उनके पानी के बसंत के सुरंग में
जिस्म से जिस्म नहाता हुआ।—**देवताले**

पुराने अखबारों
की तरह
औरतें भी लगातार
सिर्फ दुहराती है
अपने बेडौल स्तन अपनी
पीठ।—**राजकमल चौधरी**

विकृतियों से विरोध का दावा करने वाले, विकृतियों के विरुद्ध विद्रोह की भावना उभारने का दावा करने वाले ये अकविताकार क्या वस्तुतः अपने लक्ष्य की पूर्ति कर रहे हैं ? या केवल उसका 'लेबिल' लगाकर समाज को और भी विकृत बना रहे हैं ? इसका निर्णय हमें इस प्रकार की कविताओं से करना होगा—

स्तनों को रौंदते पागल कदम

खरोंचे जख्म पर मृत मछलियाँ
औरतों के कटे नुचड़े ध्वस्त अंगों पर
शिश्न की परछाइयाँ ।
एक चौड़ी आँख की घायल कुहा में कैद
भयावह शक्ल वाला विसंगत, विक्षिप्त नीला
पुरुष............आदि ।—**श्याम परमार**

इसी प्रकार विमल पाण्डेय वक्तव्य के प्रारंभ में पुरानी अस्वीकृति से भिन्नता का दावा करते हैं बाद में संभलते हुए संशोधन सा करके कहते हैं कि किसी संज्ञा के आगे-पीछे किसी विशेषण या उपसर्ग जोड़ने का अर्थ पूर्णत: मौलिक स्थापना नहीं है बल्कि कुछ बदलना मात्र है। (अकविता वालों ने भी केवल 'कविता' संज्ञा को 'अकविता' संज्ञा बनाकर शब्द को विशिष्टता प्रदान कर दी है, कविता विधा में कोई परिवर्तन नहीं है) बाकी बातें वे भी पुरानों की दुहराते चले जाते हैं। इसी पुनरावृत्ति के कारण शरद और रमेशदत्त मानव की स्थापनाएँ मूल्यहीन हैं।

एक गोष्ठी में एक अकविता के पक्षकार ने कहा कि अभी तक अकविता के पूर्व नए लोगों ने जो नाम कविता को दिये थे, वे मजाक में दिये थे इसीलिए हँसी-हँसी में कुछ दिन चलकर समाप्त हो गए। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि साठोत्तरी कवियों में जो यह 'अकविता' की खोज है—यही मजाक है क्योंकि यहाँ तो स्पष्ट कहा जा रहा है कि जो सहज में लिख जाये वही अकविता है—वहाँ कोई बात गंभीरता से नहीं ली जाती। श्री अजीत कुमार के अनुसार ये कवि गंभीरता का आडम्बर नहीं रचते, ऐसा दिखाते हैं मानों उन्होंने 'योंही' बिना किसी खास मतलब के कुछ उल्टा-सीधा लिख मारा है। वे जताते तो यही हैं कि कविता कोई अनिवार्य प्रश्न नहीं है, जो वे करें और करते ही चले जाएँ। ये कवि इसे भी मानने को तैयार हैं कि अब उनके लिए और कुछ नहीं रह गया है जो कहेंगे वह पहिले ही कहा जा चुका है।' इस प्रकार के कवि जिनके

पास सारा कथ्य पहिले ही चुका हुआ है, जिनके पास कोई गंभीर दृष्टि नहीं है, जो कविता को खेल और अगंभीर कार्य समझते हैं—वे क्या साहित्य देंगे ? निःसंदेह वहाँ निरर्थकता अधिक होगी । अकविता में वही दिखाई पड़ती है । इस बात की पुष्टि हम एक नहीं अनेक उदाहरणों से कर सकते हैं—यथा

(१) पपृक्षाः मदति लाप्रियायिता
धधहा प्रज्व कामार्द्रा
चिवयत् चाकनत् प्रचोदयामा
इन व्रण्वे विशि भोगालिंलिगम । —**मुद्राराक्षस**

(२) इससे भी अधिक अभी और कुछ अभी और कुछ
अभी और कुछ अभी और कुछ ज्यादा साकी ।
अभी और कुछ ज्यादा अभी और कुछ बाकी इससे भी अधिक
अभी और कुछ साथी अभी और कुछ ....।
इतने से अधिक अभी और कुछ अभी और कुछ
अभी और कुछ अभी और कुछ ज्यादा ।—**शकुन्त माथुर**

(३) उसने शिश्न मुंड का चित्र
अपनी डायरी में बनाया ।

प्रभाकर माचवे जैसे दर्जनों लोग जो नयी कविता के प्रारंभ काल से लिखते आ रहे हैं, हर नए झुंड में किसी न किसी बाजे के साथ हाथ में झंडा लिए दिखाई पड़ते हैं । परन्तु इनसे किसो दायित्व-निर्वाह की आशा करना व्यर्थ है । ये मसीहा बनकर अपनी छपास आज भी शांत नहीं कर सके । हर कोने-चकरे में अपना नाम किन्हीं भी आड़ी-टेढ़ी पंक्तियों के साथ देखना ही इनका अभिप्रेत है । 'अकविता' के वर्ग में श्रद्धास्पद और प्रतिस्थापक कहलाने की अभिलाषा लेकर आए अकविता के समर्थक श्री माचवे की एक निहायत निरर्थक कविता देखने योग्य है—

उसने इमरती खाई

उसने अमृत ब्रांड चाय पी
उसने अमृतसर की सैर की
उसने अमृता शेरगिल के चित्र देखे
उसने अमृतलाल नागर का हास्य पढ़ा
उसने रेडियो पर अमरवाणी सुनी······आदि ।

इसी प्रकार वे अपनी एक अकविता में टेबिल की सारी वस्तुएँ ही गिनाते हैं—पेपर वेट, पिनकुशन, स्याही सोख एशट्रे आदि । यदि अब उनकी यह क्षमता रह गयी है, तो अच्छा हो कि अपनी इज्जत बरकरार रखने के लिए वे लिखना ही बंद कर दें । संघर्ष और मौलिकता का दावा करने वाले अकविताकार इन असमर्थ और चुके लोगों का दामन क्यों पकड़ते हैं ? क्या वे सोचते हैं कि इनके द्वारा नाम कमा सकेंगे ? यह उनका भ्रम है । नाम की यश-पताका सामर्थ्य और प्रतिभा से फैलती है—शाश्वतता के निर्वाह से फैलती है । इस प्रकार के खोखले और नंगेपन से नहीं ।

'अकविता' के कुछ कवि कहते हैं हम परम्परा और मूल्यों से विद्रोह कर रहें हैं—उन्हें अस्वीकार रहे हैं । उसी की अभिव्यक्ति 'अकविता' है । दूसरे 'अकविता' के पक्षधर कहते हैं कि उनके विरोध से मतलब नहीं । उनकी कविता न मूल्यों को बदलती है, न तोड़ती है, न परम्परा से संघर्ष करती है । विरोध उसके समक्ष मूल्यहीन है । ··· 'अव्यवस्था, विसंगति मूल्यहीनता, विरोधाभास और आदर्शों का अकाल उसे अब संवेदनशील और करुण नहीं बनाते ।' जब कवि यह नहीं करता तब केवल ऊपरी सतह पर आकर छिछोरापन दिखाना ही उसका अभिप्रेत प्रतीत होता है । क्योंकि वे गंभीरता को भी नकारते हैं, नयी बात देने का भी दावा नहीं करते ।

तब एक बात और प्रश्नात्मक ढंग से उपस्थित होती है कि क्या 'अकविता' का वर्ग उस साठोत्तरी कवियों की श्रेणी से अलग है ? क्योंकि

साठोत्तरी कवि तो इन सब बातों से अपने को अलग न करके और भी निकटता से परिवेश में शामिल करते हैं। उनके स्वर अकविताकारों के स्वरों से भिन्न हैं। 'आज की कविता' के सम्पादक श्री राजानंद के मतानुसार—'.........सन् ६० के बाद आए कवितास्वरों की गूँज सुने तो हमें जीवन स्तरों की विभिन्नता के खिलाफ एक सक्रिय विरोध और स्वावलम्बन की आकांक्षा और नए व्यक्ति-संबंधों में सामाजिकता की खोज की ध्वनियाँ सुनाई देंगी।' यह स्वर 'अकविता के स्वर से भिन्न है।' 'अकविता कार' क्रुद्ध, विद्रोही और भूखी के अधिक निकट दिखाई देते हैं—जैसे

(१) वे (क्षण या) युग जिनमें
(मादा की बाहों या) या मीचकर मुट्ठियों में शिश्न
मादा की बाहों के लिए लिखना प्रेमिका को पत्र और पत्र
सूनेपन के सड़े ओठों पर
सिर, टिका कर
होते हैं 'अंधे युग' के पात्र —रब्बी

(२) पहिले तो उमड़ता है घुमड़ता है
फिर फव्वारे की तरह फूगकर टूटकर बिखरता है
नैतिकता के बिस्तर हो गए हैं
खराब आज फिर। —रब्बी

एक ओर अस्वीकृत कवियों का ताजगी और नवीन अनुभूति के नाम इतना घोर पतन और भटकी राहों का गमन है, तो दूसरी ओर आस्थावान साठोत्तरी कवियों के स्वर कानों को सुहाने और ताजे प्रतीत होते हैं। वे उन १६३६-४० के कवियों से भिन्न हैं। वे यंत्र का वर्णन नहीं, जीवन के यंत्रीकरण को संवेदनशील बनाने की बात करते हैं, उनमें व्याख्याबाजी और उच्च बताने का ढोंग नहीं है, वे विदेशी भूमि पर नहीं, बल्कि स्वदेशी पृथ्वी पर खड़े हैं, नैतिकता का दावा न करते हुए

भी विकृति फैलाने का प्रयास नहीं करते। वे विकृतियों की रोक विकृति फैलाकर नहीं करते जैसे कि अकविता वाले करते हैं, बल्कि वे विकृति का विरोध विकृति को विकृति बताकर करने में विश्वास करते हैं। वे विकृतियां के प्रतिमनों में विद्वेष और घृणा के भाव लाने में समर्थ है। वे अपने परिवेश में आस्थावान हैं। संक्षिप्त कथन में भी गंभीरता और व्यापकता है। उनमें कोई लाग-लपेट नहीं है। गद्य का प्रभाव अधिक है परन्तु पद्य की विशिष्टताओं से युक्त। वे मूल्यों को पूर्णतः बदलने का दावा तो नहीं करते परन्तु बदले मूल्यों को अपने जीवन के अनुकूल लाने के लिए प्रयत्नशील अवश्य हैं। उनकी व्यंजनाएँ अच्छे धरातल पर नहीं हैं, उनकी आस्थायें बौनी नहीं है, उनकी दृष्टि संकुचित नहीं है। वे लघु होकर भी प्राणवान और व्यापक हैं, क्योंकि उनमें संवेदन क्षमता और लघु में दीर्घ कथन की प्रतिभा की विपुलता है। अतः हम अथवा प्रत्येक जागरूक पाठक इस स्वर का प्रभाती की तरह स्वागत करेगा।

●

ओढ़ी हुई स्थितियों का शब्दजाल : अकविता

'अकविता को जिस शोर और बुलन्दी के साथ उसके अन्वेषकों ने उठाया है, उसमें जल्दबाजी और सतही उथलापन अधिक दिखाई देता है। गम्भीरता और चिन्तन तथा युग-बोलों का शंताश भी वहाँ नहीं है। शायद इसीलिए नेमिचन्द्र जैन को कहना पड़ा था कि 'मुझे लगता है कि 'अकविता' के विषय में विशेषांक निकालने लायक स्थिति अभी पैदा नहीं हुई।—मुझे निजी तौर पर यही लगता है कि यह एक निरा नया नाम मात्र है।' नयी कविता की सारी बातें इसमें शब्दों के हेर-फेर के साथ दुहराई जा रही है। जैसी नयी कविता को छायावाद के बाद नव्य छायावाद की संज्ञा दे दी गई, यदि कुछ समय के बाद इस अकविता नाम-धारी कविताओं को नव्य नयी कविता कह दिया जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि छायावाद से लेकर नयी कविता तक के सारे 'डिफेक्टर्स' इसमें झंडा लिए भीड़ के साथ चलते दिखाई देते हैं। मुद्राराक्षस के ही शब्दों में—'अकविता आन्दोलन अगर प्रभावहीन रहता है तो उसका एक बड़ा कारण यह है कि वह जन्म से ही फैशन-परस्तों से घिर गयी है।

निहायत रूमानी, परम्परावादी, छायावादी लोग भी अकविता लिखने लगे हैं।' कुछ ख्याति और पद प्राप्ति के लोभ में भोले आदिवासी भी आकर मिल गये हैं, कम से कम उन्हें पत्रिकाओं में स्थान तो मिलने लगा। नयी कविता के खिलाफ जो बातें इन लोगों ने उठायी हैं, वे इनमें भी हैं और उन बातों को नयी कविता वाले पहिले ही छायावाद के विरोध में उठा चुके हैं। अकविता-वादियों का नयी कविता वालों के प्रति आरोप है कि शहरी अनुभूति को लेकर सामान्य जन-जीवन की व्यंजना का रंग देना नये कवियों का कौशल था। यही बात ये भी कर रहे हैं। दिल्ली, कलकत्ता देहात नहीं, देश के बड़े-बड़े शहर हैं। उन पर आरोप था कि वे लिखते कम हैं, बकते ज्यादा हैं। परन्तु यही वक्तव्यबाजी और सफाई का रास्ता पकड़ कर वे स्वयं चल रहे हैं। क्लिष्टता की बात भी नयी कविता वालों के सम्बन्ध में कही गयी थी। सहज अभिव्यक्ति का दावा करने वाले इन अकविता-वादियों की अधिकांश रचनायें दो रोगों से अधिक ग्रसित हैं : (१) केवल त्रिकोण सीमा की गलत और विकृत व्यंजना के कोढ़ से सड़ी-गली है (२) अस्पष्ट प्रतीकों-बिम्बों के साथ असहज भाव-व्यंजक शब्दों का संकलन मात्र है। वैयक्तिता के घेरे को तोड़ने वाली नयी कविता पर इनका आरोप है कि वह कविता सामाजिक अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ है जबकि अकवितादी समाज, देश से अपने को सर्वथा अलग करने का दावा करते हैं। स्वान्तः सुखाय की बात तो तुलसी ने भी कही थी, परन्तु उनका स्वान्तः सुखाय सर्वजन सुखाय था। कवि कितना ही असम्पृक्त और अप्रतिबद्ध रहे वह व्यावहारिक-प्रभाविक जगत में सम्भव ही नहीं है। उसकी अनुभूति-संतुष्टि अनेकों की है, कहीं न कहीं वह किसी के प्रति प्रतिबद्ध भी है। अवचेतन मन की इस सचेतनता को कोई कब तक वक्तव्यबाजी से अस्वीकार करेगा। एक वर्ग समाज-सम्पृक्ति की बात करता है, दूसरे वैयक्तिक घेरे की, तीसरी इन सबसे अलग। स्वयं से, समाज से अलग रहने की घोषणा

करने वाला तमाम काव्य मुझे झूठा, संदेहास्पद अथवा निरर्थक लगता है।'अपनी कविता भी मुझे उतनी ही अजनबी लगती है, जितना अपना व्यक्तित्व' (जगदीश चतुर्वेदी)। इन्हीं सब कारणों से उनकी उपलब्धि की महत्ता दिखाई नहीं पड़ती। प्रतीत होता है कि नयी कविता की तरह यह विधा कोई 'अज्ञेय' या 'भारती' नहीं दे पायेगी। कोई भी साहित्यिक स्थायी देन तभी दे सकता है जबकि उसकी दृष्टि साफ हो, समाज, वातावरण और गति का सूक्ष्म अनुभव हो, अभिव्यक्ति की ईमानदारी हो। इनमें से कुछ भी यहाँ उपलब्ध नहीं हैं। केवल आन्दोलन के लिए आन्दोलन क्षणिक होगा। कुकुरमुत्तों की तरह एक खास मौसम में तनकर अपने आप बिना प्रयास के कुछ समय बाद नष्ट हो जाना ही इनका धर्म है।

यदि इनके काव्यों में स्थापित सिद्धांतों का विवेचन-विश्लेषण किया जाय तो वे स्वयं इतने 'कनफ्यूज्ड' है कि परस्पर विरोधी वयक्तव्य दे डालते हैं और बाद में उसे नया कलर देने का प्रयास करते हैं। 'अकविता' के विवेचक श्री अजितकुमार के वक्तव्य पर डा० श्याम परमार ने बुरा-भला कहा, जो स्वयं 'अकविता' के जन्म-दाताओं में से हैं। वे यहाँ तक कहते हैं कि उनका यह वक्तव्य भ्रामक है। इनका कहना है कि मूल्य बदल गये, टूट गये। यह नारा नया नहीं पुराना है। शब्दाडम्बर नयी कविता वालों की खोज हैं। काव्य-स्वरूप बदलते हैं, विधा नहीं। 'रासो' युगीन तलवारों की झनकार 'रीतिकाल' की कामिनी-पायलों की रुनझुन में विलीन हो गयी। वही रुनझुन भक्तिकाल में राम-कृष्ण के चरित्रों में थी। लेकिन ये सब परिवर्तन स्थूल और स्पष्ट थे। उस काव्य धारा को तोड़ने का कुछ श्रेय हरिश्चन्द्र युगीन साहित्यकारों को रहा जिसे विकसित किया महावीर प्रसाद द्विवेदी ने, जिसे गुप्त जी आदि ने छायावाद के धरातल पर ला दिया।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में सबसे बड़ा क्रान्तिकारी कार्य किया

छायावादी और छायावादोत्तरी कवियों ने। हजारों वर्षों की अनेक परम्पराओं को उन्होंने तोड़ा, लेकिन भाव-भूमि का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य बना रहा। छन्द आदि के कारागार से कविता की यही मुक्ति मिली। जितनी बड़ी क्रान्ति इन लोगों ने की वैसी साहित्य इतिहास में नहीं हुई। इस क्रान्ति को यथार्थ धरातल पर लाने का भरपूर प्रयास प्रगतिवादी और नये कवियों ने किया। लेकिन उसके बाद परिवर्तन की कृत्रिम घोषणा की आड़ में केवल अनुकरण किया गया। अतः जब यह कहा जाता है कि यह सब उसी के विकास सोपान है तो एकदम गलत नहीं है, भले ही उसके पीछे मसीहा बनने की भावना ही क्यों न हो।

छायावादी युग में स्पष्ट लग रहा था कि परम्परायें बदल रही हैं, मूल्य टूट रहे हैं, उथल पुथल हो रही है परन्तु उनकी यह क्रान्ति स्थिर इसलिए न रह सकी क्योंकि वे केवल साहित्य-क्षेत्र में रहकर सौंदर्य-सूक्ष्मता की बात में उलझकर कल्पना के सहारे किसी अदृश्य के प्रति 'अजान' भर भेजते हैं, उसे यथार्थ भूमि पर लाने का प्रयास प्रगतिवादियों ने ही किया। यह अलग बात है कि 'वाद' के चक्कर में पड़कर प्रगतिवाद अधिक दिन तक टिक न पाया हो। उसे पूर्णता दी नये कवियों ने। भले ही उनमें कुछ दोष रहे हों। यदि नयी कविता वाले 'बुद्ध' बनकर दूसरों को 'अबुद्ध' मानकर चलने का अहम्‌वादी नाटक न करते तो वे इतनी जल्दी क्षेत्र से न हटते। परन्तु इसका आशय यह नहीं कि उसके साथ नयी कविता भी चली गयी। नयी कविता में नयी पीढ़ी का आगमन हुआ। अपने को अलग स्थापित करने के लिए ताजी, बासी, गलत, प्रति कविता, विद्रोही बीट, अकविता के नारे भले ही दिये गये हों, परन्तु नयी कविता जिस रूप में छोड़ी गयी थी—उससे हटी नहीं। लोगों को भ्रमित करने के लिए कविता लिखकर 'अ-कविता' का नाम देना केवल नाटकीय कला-बाजी है, साहित्य-कौशल नहीं। वैसे अकविता की आड़ में जो लिखा जा रहा है वह अधिकांशतः कूड़ा है, जिसे मोही कवि प्रभाकर माचवे ने भी

स्वीकार किया है। यह अलग बात है कि वे भी अकविता लिखते हों।

जिस प्रकार नयी कविता में छायावाद का कम-ज्यादा प्रभाव था, वह प्रभाव आज भी विद्यमान है। जिन नयी स्थापनाओं का दावा नयी कविता वालों ने किया था—वही आज भी है : अन्यथा 'मलय' यह न कहते कि '—भय और आशंका, घुटन और घृणा, उपेक्षा और अजनबीपन, संत्रास और आक्रोश और यहीं कहीं टूटते हुए,टकराकर चरमराते हुए किन्हीं गहरी रेखाओं से घायल होने का क्रम मेरा है—वहाँ जहाँ मेरे अभिक्षिप्त अस्तित्व का प्रश्न और नियति है।' इस वक्तव्य के मूलभाव और शब्दों को हर नये कवि के वक्तव्य में पढ़ा जा सकता है। इनकी अनुभूति नये प्रकार की नहीं है। हरदयाल के अनुसार—'अकविता के इस घोषित उद्देश्य को देखने से लगता है कि वह प्रयोगवादी कविता या नई कविता से भिन्न नहीं है।' अकविता के मूर्धन्य, मुद्राराक्षस को अनुमान लगाना पड़ा कि कहीं जो रचनायें अन्य २ पत्रिकाओं से वापस आ जाती है यहाँ छाप दी जाती है। इसका आशय यह है कि वे रचनाएँ जो निम्न कोटि की हैं इस नाम से छापी जा रही हैं। इसकी दयनीय स्थिति स्वयं बहुत स्पष्ट है। अभी तो अकविता नामधारी साहित्य की मात्रा ही कुछ नहीं है—कुछ इक्की-दुक्की पत्रिकाएँ कभी-कभी अकविता शीर्षक से सतही कविताएँ (?) प्रकाशित करती हैं, अकविता पत्रिका का प्रकाशन दिल्ली से प्रारम्भ हुआ, वीणा, और 'कृति-परिचय' के अकविता विशेषांक भी निकाले गये। इनके अतिरिक्त उत्कर्ष जैसी कुछ पत्रिकाओं ने 'साठोत्तरी कविता विशेषांक' निकाले जहाँ संदर्भों में अकविता की चर्चा है। कुछ फुटकर लेख भी प्रकाशित होते रहते हैं। श्री राम वर्मा के 'पैम्फलेट' भी देखने को मिले, परन्तु एक भी पुस्तक-संग्रह देखने में नहीं आयी जिसे स्थायो महत्व का कहा जा सके। स्थिति यह आई कि जिसने अपनी रचना को अकविता कह दिया या तो वह अकविता हा गई अथवा जिसे सम्पादकों ने अकविता का नाम देकर छाप लिया। इसी स्थिति के लिए नेमिचन्द्र

जैन ने कहा कि कुछ लोगों ने अपने आप अपनी कविता को 'अकविता' कहना शुरू कर दिया और अब उसे लेकर सैद्धान्तिक वाद-विवाद भी चल पड़ा।' अन्यथा 'वीणा' (जो प्रथम अकविता विशेषांक है) के सम्पादक को यह न लिखना पड़ता कि 'हमें खेद है कि वीणा के इस आह्वान को हमारे साहित्यकार बंधुओं ने पूरी सजगता से ग्रहण नहीं किया।... इस अंक की कई कविताएँ ऐसी हैं जिन्हें अकविताएँ कहने की अपेक्षा अर्ध कविताएँ या अर्ध-नयी कविताएँ कहना उपयुक्त होगा।' उन्होंने विचार-सामग्री के अभाव के प्रति भी चिन्ता व्यक्त की। ऐसी अराजक स्थिति को देखकर लगता है कि साहित्य-क्षेत्र के सारे 'डिफेक्टर्स' इन 'अ' वादी विधाओं में स्थान बनाने के लिये जबरन घुसपैठ कर रहे हैं या उन्हें जबरन खींचकर लाया जा रहा है। इस प्रकार गर्दन दबाकर चीं बुलवाने के अनेकों उदाहरण सामने आये हैं। कई रचनाकार जिनकी रचनाएँ 'अ' विशेषणों के अन्तर्गत छापी गयी हैं—अपनी सफाई दे चुके हैं कि वे न तो अकवि हैं, न अकविता लिखते हैं। वे कवि हैं और कविता लिखते हैं, सम्पादक चाहे जो करतब करें। कुछ नये और उभरते लोगों को प्रलोभन देकर घसीटने का योजनाबद्ध प्रयास चल रहा है। मुद्राराक्षस ने कहा है—एक संग्रह 'अकविता' नाम से निकल रहा है जिसके संकलयिताओं में मेरा भी नाम छापा जा रहा है, लेकिन जो चीजें उसमें छप रही हैं, नयी कविता की परम्परा में ही है।' भाषा से स्पष्ट है कि उनकी राय न होते हुए भी उन्हें उसमें शामिल किया गया है। श्री अशोक वाजपेयी ने एक भेंट में बताया था कि अकवितावादियों के मेरे पास दर्जनों पत्र हैं, जिनमें मुझे शामिल होने का आह्वान किया गया है लेकिन जब मैं तैयार न हुआ तो मुझे गालियाँ दी जाकर 'अपरिपक्व' आदि कहा जाने लगा। परन्तु जो इन लोगों की तरह सिद्धांतनिष्ठ और प्रबुद्ध नहीं हैं वे इस षड्यन्त्र के शिकार हो ही जाते हैं। इसी प्रकार कुछ अकवितावादी कवि कविताएँ (अकविताएँ नहीं) लिखकर पैसे वाली

पत्रिकाओं से अर्जन भी कर लेते हैं और दूसरी ओर अकवि भी बने हुए हैं। यदि रचना वहाँ स्थान न पा सकी तो वह तुरन्त अकविता बन जाती है।

अकवितावादी एक ओर यह दावा करते हैं कि हम सामाजिक जीवन भोगकर उसकी स्थिति देखकर ही अकविता लिखने को विवश हुए हैं। मैंने कभी भी वह नहीं लिखा, या लिखा नहीं गया, जिसे मैंने भोगा नहीं। —मेरी काव्य रचना भोगे हुये क्षणों का, भोगी हुई संवेदनाओं का मात्र विवरण है।—धीर। स्पष्ट है कि जीवन-जगत की अनुभूतियों के प्रभाव एवं प्रतिफल स्वरूप इस काव्य की प्रसूति हुई तब फिर उन्हीं के इस कथन का कि 'मैं आत्मरति में विश्वास नहीं करता'—या जगदीश चतुर्वेदी का स्पष्टीकरण कि 'समाज के प्रति एक तीव्र विरक्ति, परिवार के प्रति तीव्र विरोध तथा देश के लिए एक निर्जीव सम्वेदना मुझ में विकसित होती रही। मुझे खेद है कि मैं रोटी, हड़ताल या राजनीति जैसे मोटे विषयों पर बात तो कर सकता हूँ, उन्हें काव्य के लिये स्वीकार नहीं कर पाता।' श्याम परमार और सौमित्र वैयक्तिकता के साथ ही निर्वैयक्तिक होना अकविता का अनिवार्य गुण (यद्यपि इस दोहरी मान्यता को भ्रामक इसलिए कहा जायेगा कि एक तो एकदम वैयक्तिक फिर दूसरी ओर सामाजिक होने का ढोंग) मानते हैं जबकि विमल इनसे अलग होकर स्पष्ट स्वीकारते हैं कि—' अभी तक मैं यह भी तय नहीं कर पाया हूँ कि मैं कविताएँ ही लिखता हूँ या कुछ और ? मेरे लिखे का कुछ अर्थ सचमुच नहीं है, यह तो मैं ही कह सकता हूँ—मैं चाहता हूँ कि हर चीज सार्वजनिक हो, कलाएँ और विचार भी।' तब घोर वैयक्तिक अकवितावादी क्या इसके विरोध में खड़े होंगे ? या उसका भी कोई लचीला संविधान है ? जो कवि समाज की ज्वलन्त समस्याओं के प्रति सजग नहीं है, प्रभावित नहीं हा तो यह या तो अंधा होगा या फिर जड़ पत्थर। यदि कोई जगदीश चतुर्वेदी की तरह अस्वीकारने का दुस्साहस करे तो

उसे गलत ही कहा जायेगा क्योंकि कवि की संवेदना तो अलग प्रकार की ही होती है।

अकविता में विसंगति की बातें बहुत की जाती हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि आज के जन-जीवन में विसंगति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। परन्तु उन लोगों की रचनाएँ और वक्तव्य पढ़ने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे विसंगतियों की अनुभूति नहीं, बल्कि रचना करते हैं। यदि ऐसा न होता तो जगदीश चतुर्वेदी को यह कहने की आवश्यकता न होती कि आजकल मैं विभिन्न निषेधात्मक विषयों पर विसंगति का सृजन करने में रत हूँ, और कह नहीं सकता कि कल उसे नकार दूँ।' विसंगति है क्या ? आज के जीवन और विचारधाराओं में कहीं संगति वाली बात नहीं है ? यह कहना गलत होगा कि संगति संसार से उठ गयी। अकवितावाले तो विसंगति-निर्माण को अपनी उपलब्धि मानते हैं। अनुभूति का अर्थ है—उसकी विद्यमानता। जब कि निर्माण का अर्थ है—विद्यमान करना। इस 'होने' और 'करने' में बहुत अन्तर है। तभी तो अकविता सर्जक चतुर्वेदी भी स्वीकारने को विवश हैं कि 'विसंगति आज के काव्य की अनिवार्यता है। वह बहुत कम लोगों में पाई जाती है। मुझे तो वह ओढ़ी हुई विसंगति से ग्रस्त मालूम पड़ती है। जिस विसंगति से अमेरिका में रहने वाले 'बीट' युवक या अफ्रीकी देशों के नव-जवान ग्रस्त हैं, वह अपने देश के अधिकांश कवियों के लए विदेशी है। तब फिर अकविता-जन्म का औचित्य क्या है ? अभी तक तो कहा यही जाता रहा कि विसंगतियों ने ही अकविता को जन्म दिया। और तब जैसा कि कुमारेन्द्रजी की मान्यता है कि हम इनकी आड़ लेकर मूल प्रश्नों से कैसे बच सकते हैं ? विसंगति चिन्तन का विषय है, कोई कार्य या संज्ञा नहीं। अतः हमें युगीन प्रश्नों की ओर ध्यान देकर जागरूकता का परिचय देना होगा।

वक्तव्यबाजी को निरर्थक माननेवाले अकवि बराबर वक्तव्य दे रहे

हैं। एक ओर नरेन्द्र धीर यह मानते हैं कि वक्तव्य देना हिजड़ों का सा कार्य है—'वक्तव्य देना कभी कभी मुझे ऐसा लगता हैं जैसे हिजड़ा ताली पीटकर प्रचार कर रहा हो।' दूसरी ओर सभी कवि बिना वक्तव्य और सफाई के लिख ही नहीं सकते। अपनी अस्वीकृति को स्वीकृति का रूप देकर भी नकारना विरोधी कार्य नहीं तो और क्या है ? प्रकाशित विशेषांकों को लेकर अन्य पत्रिकाओं तक वक्तव्य ही अधिक हैं। बिम्बों की क्लिष्टता को विद्वता मानने का भ्रम कब तक चल सकता है ?

परम्परा भंग की बातें खूब जोरों से उछाली जा रही हैं। परम्परा से अप्रभावित होना एक बात है, उसे भंग करना दूसरी बात है। अकवि तो अपने को एकदम अछूता कह रहे हैं। व्यावहारिक जीवन में यह सम्भव नहीं है। कोई भी पीढ़ी पूर्व पीढ़ी से प्रभावित हुए बिना, परम्परा से कुछ लिये बिना खड़ी रह नहीं सकती। स्वयं अकवि इस सम्बन्ध में निश्चित नहीं हैं। एक स्थान पर मोना गुलाटी की मान्यता है कि मैं अपने पूर्वजों से कुछ भी प्राप्त करना नहीं चाहती, न उनकी जुगुप्सायें और न ही आदर्श और अनाड़ी आदतें परन्तु एक दूसरे स्थान पर वे इसका संशोधन करती हुई स्वीकारती हैं कि एक पीढ़ी की कुंठायें (दर्शन) दूसरी पीढ़ी का सहज प्राप्य धरातल होता है। एक ही अकवि का यह विरोधी वक्तव्य उनकी किस दृष्टि को प्रस्तुत करता है—विचारणीय है। मलय और मणिका मोहनी के वक्तव्य परम्परा को अस्वीकार करके भी परम्परा से जुड़े हुए हैं। चन्द्रकान्त देवताले एक स्थान पर यह मानकर चलते हैं कि आज की कविता का वृत्त अत्यन्त विस्तृत है और अकविता उसकी कक्षा। दूसरी जगह उन्हीं की स्वीकृति है कि परम्परा-विद्रोह, काव्यरूढ़ि से मुक्ति की बातें अकविता के सन्दर्भ में मुझे पुरानी लगती हैं।

इसी प्रकार समस्यायें उठाना सरल है, पर समाधान-संकेत जिम्मेदारी का कार्य है, जिससे सभी अकवि भागते दिखाई पड़ते हैं। नारे अधिक दिये गये, कार्यक्रम किये गये। तोड़ने की बातें कही अधिक गयीं; तोड़ा

कम गया। यदि रामधनी की ही बात को लें तो 'दीवारें ढहाई कम गई, लाँघने की कोशिश ज्यादा की गई, लेकिन जिन्हें लांघ पाना सम्भव नहीं लगा है, उन्हें नजरअन्दाज कर दिया गया है।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अकवियों ने जितनी बातें उठाई हैं, उनमें सभी एकमत नहीं हैं। उसका कारण दृष्टि की धुँधलाहट है। एक ही व्यक्ति एक ही तथ्य पर विरोधी वक्तव्य दे डालता है। दो अलग कवियों के वक्तव्य तो प्रायः खंडनात्मक ही प्रतीत होते हैं। यदि वातावरण में परिवर्तन आया होता तो अनुभूति की एकरूपता रहती। वक्तव्यों में परस्पर विरोधी बातें न ठहरतीं। लेकिन जहाँ ओढ़ी हुई कृत्रिम स्थिति है वहाँ इस प्रकार की सम्भावनाओं को समाप्त नहीं किया जा सकता।

•

अकविता की मृत्यु : कारण-परीक्षण

•

•

अकविता मर चुकी है। इस वाक्य को पढ़कर हो सकता है कि तथाकथित कुछ कवि-चिन्तक नाक-भौं-सिकोड़े और यह कहें कि यह वाक्य पूर्णतः निराधार है। हो सकता है कि उसे जीवित प्रमाणित करने के लिए वे अनेक साक्ष्य-प्रमाण प्रस्तुत करें। लेकिन जब मैं कहता हूँ कि 'अकविता मर चुकी' तो किसी पूर्वाग्रह से नहीं, बल्कि राग-द्वेष से परे होकर सहानूभुति के स्वर में कह रहा हूँ।

जड़ स्वरूप ग्रहण कर रही नयी कविता को लांघकर जिन अनेक नामधारिणी कविताधाराओं को कुछ एक पत्रिकाओं और चमत्कारिक घोषणाओं के द्वारा उछाला गया उनमें औसतन अधिक चर्चित और क्षणिक, पर व्यापक दिखाई देने वाली केवल 'अकविता' संज्ञा ही थी। लगा था कि इससे कविता धारा में कुछ ताजगी आयेगी। रूढ़ और भावों में रोज दुहराई जाने वाली जानी-पहचान शब्दावली में गुम्फित नई कवितायें पढ़ते-पढ़ते मन ऊब चला था। कविता को इस कारा से मुक्त करना आवश्यक था। इसी बीच कुछ ऐसी हवा चली कि अनेक नाम

सामने आए। पहिले कोई स्थापना दसों वर्ष चलती थी फिर वर्षों ओर दिनों की बात आ गई। तभी तो लगभग चालीस नाम सामने आए। यद्यपि इनमें अधिकांश केवल नाम ख्याति की दृष्टि से ही थे। पहिले नामकरण के लिए समारोह करना पड़ता था—अब आजकल केवल एक लेख लिखना पड़ता है, बस। खोटा सिक्का चल पड़ा। एक दो हाथ तो खिसकेगा ही।

अकविता के मरने के अनेक कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि अकविता की प्रेरणा और प्रेषणीयता का क्षेत्र बहुत सीमित था। जिस संकुचित मनोधारणा और मनोभूमि को लेकर अकविता वाले चले वह अधिक दिन तक टिक सकने की स्थिति में थी ही नहीं। शारीरिक अंगों की धूमधाम कर विकृति व्यंजना और मर्यादा को तोड़कर मानव और पशु को एक करके वासनात्मक क्रियाओं की खुले आम विज्ञप्ति—यही मुख्य भूमि थी अकविता की। पहिले तो इतना मर्यादाहीन समाज हो नहीं सकता—फिर मानव-जीवन के यह गौण पक्ष ही कहे जायेंगे। अतः इतने दिन टिक कर चर्चित हो जाना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि मैं इसे गंभीर चर्चा नहीं मानता। यदि दूसरों ने चर्चा की है तो स्वयं आश्चर्य में। चिन्तन में नहीं।

दूसरे अकविता की शब्दावली का परिवेश भी व्यापक नहीं था। गिनी-चुनी शब्दावली में वही-वही भावनाएँ रखकर चौंकाने का प्रयास करना ही लक्ष्य रहा। परिणाम यह हुआ कि लिंग, भग, स्तन, स्वप्न-दोष, रतिक्रिया, ऋतुगंध आदि शब्दावली का कब तक बार-बार प्रयोग किया जाता? नंगा होकर सड़क में घूमना, हर किसी लड़की के साथ भोग की इच्छा व्यक्त करना, और कब तक लोगों को चमत्कृत करता? पत्नि, माँ, बहिन को सामान्य अपरिचित नारी के धरातल पर लाकर बिठा देना ही इनकी संभवतः चरमावस्था थी। उसके आगे कुछ कर पाना उनकी विवशता थी। जिसे शब्दों में न व्यक्त कर सके उसके चित्र

बनाये। जो बहुत पुरानी शैली है।

तीसरे, लोग जिम्मेदारियों की बातें करके अप्रत्यक्ष रूप से पलायन वाद का पाठ सिखाते हैं। कुत्ते कुतियों की तरह अतृप्ति की गरमी से तप्त होकर जीभ बाहर निकाले इस या उसको सूँघना और सब तरह से आँखें बन्द कर आवारों की जिंदगी से किसी बात की उपलब्धि की आकांक्षा कैसे की जा सकती थी ? आखिर वहीं तड़फड़ाकर जीवन का अन्त कर देना ही श्रेयस्कर रहा। अकविता के साथ वही हुआ। वे पलायनवादी बनकर असफलता की गुहा में निराश होकर हाँफ रहे हैं जिनकी लटकी जबान से लार टपक रही है।

हिन्दी के साथ एक बड़ा दोष यह है कि इसमें जो आता है कुछ ले-देकर कुछ दिन चर्चित अवश्य होता है, विशेषकर पिछले दशक से तो यही हो रहा है। किसी ने चर्चा प्रारम्भ की, दूसरे ने सुनियोजित ढंग से उसे ऊपर ही उठाया, तीसरे ने सम्भाला और गाड़ी चल पड़ी। बाद में जैसे ग्रामीण महिलाएँ लोक गीत की एक ही पंक्ति गाती हुई मेले का सारा रास्ता गुजार देती हैं, वही गति हिन्दी के कवि और कहानीकारों की भी होती है।

होता यह है कि सबसे छिछली और कम महत्वपूर्ण बात ज्यादा जल्दी उभरती है—ज्यादा चर्चित होती है। अभी कुछ दिनों पूर्व डा० जगदीश गुप्त ने रायपुर में बताया था कि 'अगर कहीं मैं तोता होता तो क्या होता' नामक कविता लेखक ने हँसी-हँसी में लिखी थी, और उसे छपने के लिये नहीं—मजाक में पढ़ने के लिये सम्पादक के पास भेजी थी। पहिले तय किया गया कि उसे न छापा जाय बाद में इस ख्याल से कि गंभीर चीज के बीच कुछ हलकी-फुलकी मनोरंजक रचना भी डाल दी जाये ताकि पाठक गम्भीरता में 'बोर' न हो—उसे भी स्थान दिया गया। परन्तु आश्चर्य यह है कि गम्भीर कविताओं की तरह देकर साहित्य में सबसे ज्यादा चर्चित वही कविता हुई जो मजाक में लिखी गयी थी। यही

स्थिति अकविता की है। जब प्रारम्भ में अकविता की चर्चा उठी, रचनायें आयीं, तो उतनी गम्भीरता से लेने की बात नहीं थी। सोचा गया कि शायद इसी बहाने कुछ परिवर्तन आये। लेकिन वह विशुद्ध मजाक ही बनकर रह गयी। नाम नहीं लूँगा—मेरे एक मित्र ने 'अकविता' के एक अंक की छपी रचनाओं देख कर कहा कि ऐसी तो मैं बैठे-बैठे पचास कविताएँ लिख सकता हूँ और वस्तुतः उन्होंने १०-१२ वैसी रचनायें लिखीं जिसमें अश्लील शब्दावली का प्रयोग था और उसी 'रफ' को लिफाफों में भर कर दो पत्रिकाओं में भेज दिया। उसमें से कुछ एक माह बाद छपकर सामने आ गईं। 'अकविता' का सारा आन्दोलन कुछ इस प्रकार का आन्दोलन था जो अपने आप समाप्त हो गया। प्याले में तूफान कब तक उठाया जाता। इतने दिन तक चल जाने का कारण यह था कि कुछ आलोचक मित्रों ने उसे जबरदस्ती ऊपर उठाकर खींचने का प्रयास किया। लेकिन वही प्रशंसा के वाक्य कब तक दुहराये जाते। अतः आलोचना-क्षेत्र का बवंडर भी ठण्डा हो गया। अब आज अकविता में पहिले सा जोर नहीं है, दम तोड़ती आत्मा की कराह भले ही हो। उसकी उपलब्धि के नाम पर 'कृति परिचय' का 'अकविता विशेषांक' जो दिल्ली के दावेदारों के निर्देशनों और अन्य रचनाओं-लेखों का संग्रह है—उल्लेखनीय है। साथ ही कुछ इश्तहार, 'अकविता' पत्रिका के कुछ अंक और छोटी-छोटी एक दो संग्रह पुस्तकें बस। क्या हम इसे उपलब्धि माने? क्या इसके बाद साहित्य से पलायन कर जाना अकविता की मृत्यु का प्रमाण नहीं है? जिसका क्षेत्र सीमित हो, शब्दावली सीमित हो, जिसमें गम्भीरता न हो, उत्तरदायित्व को नकारा जावे, जिसका प्रेरणा-स्रोत शाश्वत न होकर अतृप्ति को भौतिक वासना के कुछ शारीरिक अंग हों, जिसका कोई लक्ष्य न हो, जिसे व्याख्या की घूँटियों और आलोचनाओं के रसायन से जिलाने की चेष्टा प्रारम्भ से ही की जाती रही हो उसके जीवित रहने की कल्पना ही कैसे की जा सकती है? यदि क्षमा करें तो

कहूँ कि आकाश बूँद को 'पुत्र-पुत्र' कहकर प्रचारित किया गया था, वस्तु-तथ्य यह है कि 'पुत्र' को रूप देने वाली किसी यथार्थ सप्राण, सात्विक तत्व की न शुरुआत हुई, न प्राप्ति।

यह अवश्य आभास हुआ कि नई कविता की जड़वत धारा को गति देने के लिये किसी नए रूप, भाषा-भाव-शिल्प के साथ कविता को प्रस्तुत करना जरूरी है। लोगों की रुचि परिवर्तन में है—इसीलिए नई चीज का नाम सुनकर पाठक दौड़ पड़ता है। इससे नई कविता-धारा के कवियों को चेतावनी मिली है। वे अपनी जड़ता दूर कर सकते हैं। वैसे यह भी प्रमाणित हो चला कि आज के जीवन और समाज की स्थिति को व्यक्त करने वाली कविता अभी आई नहीं। जब तक हम आज का जीवन व्यक्त करने लायक कविता का सूत्र प्राप्त करेंगे तब तक सम्भव है कि जीवन कहीं और चला जाय। कवि फिर पीछे रह जाएँ। जीवन समाज को पूर्ण और सही अभिव्यक्ति देने वाले कवि-साहित्यकार संख्या में कम और कभी-कभी होते हैं। अकविता वालों के धराशायी होने का कारण यही कम-जोरी है। वे झूठ के सहारे कब तक जीवित रहते? आखिर उनकी झूठी वक्तव्यबाजी का अनुभूत आधारहीन सत्य खोखला सिद्ध होकर ही रहा।

अन्त में एक बात और। एक बड़ी उपयुक्त बात उठाई जाती है कि साठोत्तरी कविता प्रवृत्तियों को अलग-अलग मानकर उसकी विवेचना और मूल्यांकन किया जाये। मैं भी इसका समर्थक हूँ क्योंकि उससे उपलब्धियों का सही आकलन किया जा सकेगा। यद्यपि आलोचनाओं में कुछ इस प्रकार की दृष्टि अवश्य रहती है। दुख तब होता है जब खेमेबाज लोग इस पर सहमत नहीं होते। उनकी इसी असहमति और व्यक्तिगत यश प्राप्ति की आकांक्षा का दुष्परिणाम है कि आज लगभग चार दर्जन नाम प्रचलित हो गए। कुछ भी हो इतना निर्विवाद है कि साठोत्तरी कविता पक्षधारी पूर्वाग्रह और एकांगी अतिशयता के रोग से पूर्णतः ग्रसित हैं। इसकी मुक्ति आवश्यक है।

गीतों की बदलती दिशा : कुछ तथ्य

गीत-परम्परा नई नहीं, बहुत पुरानी है। समाज का सम्वेदनशील प्राणी सदा से ही राग की अनुभूतियों से प्रेरित रहा है। उसे जब भी भावनाओं एवं बौद्धिक प्रवृत्तियों की तीव्रता ने अन्तर से उद्वेलित किया और उसके आन्तरिक मान-सरोवर में उथल-पुथल मची तभी उसने लेखनी के माध्यम से अभिव्यंजनाओं का स्वरूप खड़ा किया। यह बात केवल छायावाद अथवा नई कविता के युग में ही नहीं हुई, बल्कि आदिम काल से ही किसी न किसी रूप में प्रस्फुटित होती रही। कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति गीतों के द्वारा होती है। मानव सदा से ही संगीत-कला के प्रति आकृष्ट रहा है। अतः गेयता, लय, स्वर, छन्द उसके जीवन के प्रमुख अंग बने रहे।

जब भी भावनाशील प्राणी के अन्तर की वीणा जीवन के किसी घात-प्रतिघात से झनझनाई तभी स्वर की गति बाँधकर गीत को जीवन प्रदान किया गया है। यही स्वर-लहरी आगे चलकर साहित्य में गीतों के नाम से प्रचलित हुई। यही गीत-परम्परा विभिन्न युग-बोधों के परि-

वर्तित स्वरूपों के साथ समय-समय पर बदलती रही, लेकिन चलती रही अनवरत गति से। कभी भक्ति भावना के आधिक्य से इतिवृत्तात्मकता का जामा ओढ़े और कभी राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत। तब तक इसमें विवाद की सम्भावना नहीं थी। नये युग के साथ हर चीज नये परिवेश में आई और उसकी सार्थकता तथा सत्यता को 'नई' कसौटी पर कसा जाने लगा। नई कविता, नई आलोचना, नई कहानी, नव एकांकी आदि उसी का परिणाम है। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि इस 'नये' शब्द की सार्थकता नहीं है। इन सब 'नये' के साथ गीत की क्षीण धारा भी बराबर प्रवाहित होती रही। पहले किसी का ध्यान ही नहीं गया था इसकी ओर, लेकिन अणु अन्वेषी वैज्ञानिक साहित्यकारों ने किसी नाड़ी की परीक्षा लेने से नहीं छोड़ा और अब नये गीत का ताना-बाना बुना जाने लगा। 'नया' लगाने की जो अतिआधुनिक परम्परा चल पड़ी है उससे यह भी न बच सका और अब उसका वंश-कुल बदलकर उसे अलग स्थान पर रोपित करने का प्रयास जारी है।

'नई कहानी' एवं 'सचेतन कहानी' के एक नये अभियान की तरह ही इधर कुछ दिनों से सूक्ष्मदर्शी तथाकथित प्रवर्तक साहित्यकारों ने नवगीत प्रवर्त्तन का दावा करना प्रारम्भ कर दिया है।

उनका ऐसा ख्याल है कि संभवतः वे नये गीतों के रूप में साहित्य और समाज को सर्वथा एक नवीनतम वस्तु प्रदान कर रहे हैं जिसके लिए अभी तक कोई दावेदार नहीं है। परम्परा से हटकर छन्द-लय मुक्त छाया-वादी रहस्यवादी कविता के सैकड़ों सर्जक साहित्य-आकाश को सर में उठा रहे थे और ऐसा लग रहा था कि जो कुछ भी अभी तक था वह सब उलट-पुलट कर नवीन स्थापनाएँ होंगी। लेकिन बरसाती बाढ़ की तरह उस मैदान में सैकड़ों क्या दर्जनों भी न रह सके और जो अपनी अति-वैयक्तिक सीमा से आगे बढ़कर समाज-संस्कृति, पुरातन-नूतन को अपने साथ लेकर चले वही स्थायी बन सके। यही कारण है कि छायावाद-

रहस्यवाद के नाम पर अब प्रमुखतः चार-छः के ही नाम लिए जाते हैं। इसी बीच एक नई उगती पीढ़ी ने जब यह समझा कि अब तो यह धारा खतम सी हो गई, इसमें जो कुछ कहा जाना था वह सब अपनी विशेष स्थितियों के कारण चुक सा गया है तो 'नई कविता' ईजाद की गई। यह तो निर्विवाद है कि साहित्य और समाज कभी स्थायी नहीं रह सकता। उसे प्रगतिशील बनाने के लिए परिवर्तन अत्यावश्यक है। लेकिन परिवर्तन का अर्थ जो कुछ भी पहले का है उसे पूर्णतः छोड़ देने का दावा करना नहीं है, बल्कि नये और पुराने को मिलाकर एक नया स्वरूप खड़ा कर देना है जो अधिक आकर्षक और सबल हो। समाज संस्कृति सापेक्ष्य साहित्य अपेक्षाकृत अधिक बलिष्ठ होता है। नई कविता के नाम पर ढोल पीटे गये, आलोचकों ने भी प्रारंभ में इसे बेहूदा, बेकार और न जाने क्या-क्या कहा। फिर नये सर्जक-आलोचकों ने इसे एकदम 'दिव्यदान' निरूपित कर अपने को कृतकृत्य समझा। लेकिन विज्ञान के बढ़ते चरणों के साथ जिस प्रकार हर क्षण हमारा समाज घूम रहा है, वैसे ही साहित्य रथ का पहिया भी बराबर वाहक-साहित्यकारों का अनुगमन करता जा रहा है। अतः अभी हाल ही में नई कविता के बीच से 'नवगीत' के सीप बटोरे गये और अब उन्हें एक अलग ढ़ेरी में रखने का प्रयास जारी है।' मेरा ख्याल है इसके दो कारण है—एक तो जो पीढ़ी प्रौढ़ कवियों के मारे स्वच्छन्दता से विचरण नहीं कर पाती वह 'नवगीत' का दावा करके अलग श्रेणी में खड़ी हो जायेगी और दूसरे कुछ दिन हल्ला मचवाकर साहित्य में महत्ता प्राप्त कर ली जायेगी।

इधर जो कुछ भी लेख 'नवगीत' के संबंध में देखने को मिले उनमें किसी भी समर्थ आलोचक ने 'नयी कविता' से पूर्णतः 'नवगीत' को अलग करने का दावा नहीं किया। दबी जबान से नवीनता के तर्क अवश्य दिये हैं। पर यह तो होता ही आया है। जब कोई नयी विधा पुरानी से अलग होकर समकक्ष खड़ी होने का दावा करती है तो निश्चित ही उसकी कुछ

विशेषताएँ लक्षण और सीमायें होती हैं जिनके आधार पर यह कहा जाता है कि यह 'यह' है और वह 'वह' है। पुरातनवादी धारा से अलग 'नई कविता' को खड़ा किया गया। निश्चित ही उसकी कुछ विशेषताएँ अलग हैं। लेकिन क्या उसकी हर विशेषता को एक नई शाखा अथवा नई विधा की संज्ञा दी जाना न्याय संगत है? नई कविता की एक विशेषता है आधुनिक तथाकथित नवगीत अथवा उससे अलग एक नयी विधा? इस प्रकार के नवगीत क्या छायावादी-रहस्यवादी कविता में नहीं लिखे गए? फिर से उसे नयी कविता की देन कह करके 'नवगीत' का एक आश्चर्य क्यों कायम किया जाता है? संभवतः इसीलिए 'कविता १९६४' (जो नवगीत के प्रथम संकलन का दावा लेकर आगे आयी है) में डा० शंभूनाथ सिंह ने अपने लेख—'नवगीत : इतिहास लेख'—में लिखा है कि : 'वस्तुतः नयी कविता और नवगीत में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। नई कविता छायावादी, प्रयोगवादी, और प्रगतिवादी भावबोध से भिन्न आधुनिक भावबोध की कविता है और नया गीत उसी का एक अंग है।' डा० रामदरश मिश्र ने अपने लेख में स्पष्ट किया है कि—'नवगीत फिर भी मैं निसंकोच कहना चाहूँगा कि नयी कविता का पूरक है...नवगीत नयी कविता का सहवर्ती हैं, विरोधी नहीं।'

जहाँ तक गीत का संबंध है वस्तुतः वह आतंरिक आवेगमयी हृदयानुभूति का भावपूर्ण चित्रण ही तो है, जिसमें करुण, शांत, शृङ्गार रस, स्वर-लहरी, संगीत, विरह-विषाद, विनय आदि की अनुभूतियाँ प्रधानता पाती हैं। कोमलता उनकी विशिष्टता है, लेकिन इसका तात्पर्य यह न लगाया जाये कि वे अन्तर्मुखी होकर केवल अति-वैयक्तिक अभिव्यक्ति के साधन हैं। उनमें समाज, राष्ट्र, संस्कृति सभी के तत्व मिलेंगे। इन सब तत्वों से युक्त गीत ही तो प्रतिनिधि गीत कहलायेंगे। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि वेयक्तिकता से उनमें हलकापन आयेगा। वैयक्तिकता भी उनका एक गुण है। व्यक्ति किसी क्षण विशेष की रागमयी अनुभूति को प्रतीकों

और ध्वनिव्यंजक सार्थक शब्दों के माध्यम से अंकित करता है। इसके बाद भी उनमें अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी दोनों ही पक्षों को स्थान मिलता है। ऐसी अनुभूतियाँ प्रारंभ से ही कवि लोग करते आये हैं जिनकी अभिव्यक्ति समय-समय पर विभिन्न रूप वाले गीतों में हुई है।

जयदेव, चंडीदास, विद्यापति, कबीर, तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ, भारतेन्दु, प्रेमघन, श्रीधर पाठक, मुकुटधर पांडेय, मैथिलीशरण गुप्त, पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी (इन सबका उल्लेख डा० शम्भूनाथ सिंह ने अपने लेख में किया है।) के गीत किन किन उत्कृष्ट गीतों से कम है ? क्या आज के गीतकार इस बात को अस्वीकार कर सकते हैं ? यह निश्चित है कि इन नव उत्पादित गीतकारों से वे कई गुना समर्थ थे। लेकिन उन्होंने कभी भी गीत को एक अलग विधा बनाकर 'नवगीतकार' कहलाने का लोभ नहीं दिखाया। हर युग में लिखे गये गीत अपनी पुरानी परम्परा से भिन्न हैं। स्पष्ट है कि वे अपने समय के 'नवगीत' ही हैं। जैसा कि डा० शम्भूनाथ सिंह ने ही लिखा है—'किसी भी युग में नवगीत की रचना हो सकती है। गीत रचना की परम्परागत पद्धति और भावबोध को छोड़कर नवीन विचारों के नवीन आयामों तथा नवीन भावसरणियों को अभिव्यक्त करने वाले गीत जब भी और जिस युग में भी लिखे जायेंगे, 'नवगीत' कहलायेंगे।...संस्कृत में जयदेव का 'गीत गोविंद' बंगाल में चंडीदास के गीत, हिन्दी में विद्यापति, कबीर, तुलसीदास के कुछ गीत इसी अर्थ में नवगीत कहे जायेंगे।' यदि वे उस युग में नवगीत थे तो उन्हें केवल गीत कहा गया और आज के बदले स्वरूप वाले गीतों को 'नवगीत' कहा जा रहा है क्योंकि आज हर जगह 'नया' विशेषण जोड़ने की होड़ लगी है। लेकिन १०-१५ साल बाद जब इनसे हटकर और नये आयामों, स्वरूपों वाले गीत लिखे जायेंगे तो उन्हें कौन सा नाम दिया जायेगा। क्या तब 'नवगीत' नहीं होंगे ? प्रारंभिक गीत परम्परा से इनका संबंध स्थापित कर यदि केवल 'गीत' कहा जाता तो बात

सर्वथा ठीक थी। क्योंकि स्वरूप परिवर्तन तो हर युग में होता रहता है फिर अभी 'नई कविता' और इन 'नवगीतों' में कोई जमीन आसमान का अन्तर भी नहीं दिखलाई पड़ रहा है। आज का नवगीत तो अभी नयी कविता की गोद में ही पल रहा है। नये कविताकार और नवगीतकार को यदि अलग-अलग रखा जाये तो यह संभव नहीं है। आखिर दोनों विधाओं के लेखक प्रायः एक ही हैं। तभी तो डा० साहब ने लिखा है— 'सच पूछा जाय तो नये गीत के संबंध में नयी कविता से अलग होकर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं है।' किन्तु नयी कविता के अनेक स्वयंभू नेताओं ने यह भ्रम उत्पन्न कर दिया है कि गीत नयी कविता के अन्तर्गत आ ही नहीं सकता अथवा गीत की रूप-विधा नई कविता के लिए अनुपयुक्त है।' नई कविता से थोड़ा हटकर उसी शैली में लयबद्ध ढंग से चार गीत लिख देना ही अलग विधा के लिए पर्याप्त नहीं है। क्यों कि प्रायः यही सब विशेषताएँ हमें नयी कविता में भी मिलती हैं।

गीत में स्वानुभूति की प्रधानता, संक्षिप्तता, गेयता, प्रभाव की तीव्रता, राग की प्रमुखता तो स्वभावतः रहती ही है। लेखक जीवनानुभूति के मान पर कविता के रूप में सजीव चित्र उतार कर रखने का प्रयास करता है, उसमें वैयक्तिक प्रधानता के साथ युग चेतना की सारी भावनायें, विशिष्टताएँ भी समाहित रहती हैं। आज के स्वनामधन्य गीतकार अभी नयी कविता का मोह पूर्णतः नही छोड़ पाये हैं। कुछ लोग स्वाभाविक रूप से और अभ्यास करके नवीनता लाने का प्रयास अवश्य कर रहे हैं। कुछ लोग जो ईमानदारी से मौलिक सर्जना में व्यस्त हैं उन्हें इधर-उधर घसीटने का भी प्रयास किया जा रहा है। डा० रवीन्द्र भ्रमर ने यहाँ तक लिखा है कि—'इनमें अधिकांश लोग मुक्त-छन्द और अर्थ-लय को लेकर चलने वाली नयी कविता के प्रति आस्थावान हैं। इसकी मान्यता है कि छन्द मुक्त नयी कविता और ईमानदारी तथा सहजता के साथ टटके भावों की मौलिक अभिव्यक्ति करने वाली गीत कविता में कोई

विरोध नहीं है।' (नवगीत : विशिष्ट व्यक्तित्व)। यदि ऐसी बात है (यद्यपि हो यही रहा है) तो फिर 'नयी कविता' से 'नवगीत' को अलग खड़ा करने का प्रश्न नहीं उठता है। हम उसे नयी कविता की एक प्रमुख विशिष्टता के रूप में स्वीकार करने में क्यों हिचकिचाते हैं ? क्या इस लिए कि इसमें कुछ दो-चार लोगों के दावों में धक्का पहुँचेगा। साहित्य कभी दो-चार लोगों की परवाह नहीं करता। नयी कविता और गीतों में विरोध की स्थिति उत्पन्न ही नहीं हो सकती। फिर जिन गति-ताल-लय हीन कविताओं को आज गीत कहा जाता है वे वस्तुतः सभी गीतों के अर्न्तगत आ ही नहीं सकतीं, वे नयी कविताएँ ही होंगी। यदि वे गीत की परिभाषा में खरे उतरते हैं तो उनको प्राचीन गीतों की परम्परा से जोड़ना होगा। गीत के आगे केवल 'नया' लगाकर भ्रम पैदा नहीं किया जा सकता। अज्ञेय ने ठीक ही कहा है कि 'इस प्रकार के नामों से तो कृत्रिम विभाजन ही आगे बढ़ेगा।' डा० रामदरश मिश्र के मतानुसार—'नवगीत लिखने वालों का कोई दल नहीं है, दल बन भी नहीं सकता।' साहित्य की किसी विधा का पोषण दल बनाकर, कुछ विशिष्टताएँ निर्धारित कर ठीक से नहीं किया जा सकता। रचनाकार स्वतंत्र है, उसकी अभिव्यक्ति, उसकी शैली, उसके भाव-विचार स्वतंत्र हैं। वह जब जिस भाव-लहरी में होता है उस भाव विशेष की अभिव्यक्ति इच्छित रचना में करता है। सीमांकन का बंधन स्वीकार कर सही कविता की कल्पना कठिन है। सहज अभिव्यक्ति ही कविता का मूल तत्व है।

एक बात और विचारणीय है कि किसी नये कवि अथवा लेखक द्वारा गाहे-बगाहे दो-चार गीत-प्रकार की रचना कर लेना ही गीतकार होने का प्रमाण नहीं है। उसके साहित्य को देखना पड़ेगा कि वस्तुतः वह गीतकार है क्या ? हाँ, यदि एक विशेषता के रूप में कवि के विवेचन में उसका भी उल्लेख कर दिया जाय तो वह अलग बात होगी। डा० शंभूनाथ सिंह लिखते हैं कि 'शमशेर, भवानी

मिश्र और त्रिलोचन मूलतः गीत कवि नहीं हैं। प्रगीतों की रचना के साथ कभी-कभार इन्होंने गीत रचना की ओर भी ध्यान दिया।' यदि यह स्थिति है तो उन्हें गीतकारों की श्रेणी में लाकर विवेचन की क्या आवश्यकता है ? दो चार गीत लिखना ही गीतकार का माप है तो सैकड़ों व्यक्ति मिलेंगे। अतः अधिकारी लेखक को ही संबंधित विधा में लाना चाहिए, घसीटने की भावना गलत है।

'कविता—१९६४' में चार लेखकों ने गीत संबंधी लेख दिये हैं १. डा० शम्भूनाथ सिंह (नवगीत : इतिहास लेख), २. डा० रवीन्द्र भ्रमर (नवगीत : विशिष्ट व्यक्तित्व), ३. डा० रामदरश मिश्र (नवगीत : उपलब्धि लेख), ४. डा० रमेश कुन्तल मेघ (नवगीत : संभाव्य दिशायें।) निसंदेह इन लेखकों ने नवगीत के बारे में और 'नयी कविता' से उसकी अलग स्थिति के बारे में बहुत कुछ स्पष्ट लिखा है। लेकिन कई बातें जो विवाद की कही जा सकती हैं—कहीं कहीं दबी जवान से लिखी गई । जिससे स्पष्ट होता है कि अभी वे सब बातों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं, । वर्तमान गीतकाव्य और नयी कविता के परस्पर संबंधों में वे विचारों को स्थिर नहीं कर सके और 'आगे क्या होगा' का इन्तजार रह रहे हैं। इसमें उनका दोष नहीं है। अभी गीत को 'नवगीत' का नाम देकर और नयी कविता से अलग कर स्वतन्त्र रूप से विचार करने में कितनी ही कठिनाइयाँ हैं। इन लेखकों ने अपने लेखों में नवगीत-कारों में कई ऐसे लोगों के नाम छोड़ दिये हैं जिनके इस प्रकार दर्जनों गीत प्रकाशित हो चुके हैं और प्रकाशित होते रहते हैं। इसका स्पष्ट कारण द्विविधाजनक स्थिति है। मेरा मतलब यह नहीं है कि उन लोगों ने जान-बूझकर किसी को छोड़ा है और किसी को ग्रहण किया है। यह तो सोचना ही गलत है। दरअसल उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही कोई भी समीक्षक अपने विचार व्यक्त करता है। यदि गीतों की संख्या बढ़ती है, लोगों का झुकाव और लिखने का

दृष्टिकोण इधर होता है, तो हमें निसंदेह दूसरे दृष्टिकोण से सोचना होगा
हमें एक बात और तय करनी है कि जिन नये-पुराने लोगों को इनमें
गिनाया गया है, क्या वे सभी इसमें आ सकते हैं ?

इस संकलन में 'प्रवर्तन' के अन्तर्गत दस व्यक्तियों को लिया गया है।
निराला और अज्ञेय सबसे ऊपर हैं। यह तो निर्विवाद है कि नई कविता
के मामले में मुक्त-छंदों के लिए वे नये कवियों के मार्गदर्शक और प्रवर्तक
ही सिद्ध हुए हैं जिन्होंने वीणापाणि सरस्वती से अत्यन्त विनम्र भाव से
प्रार्थना की थी कि :

नव गति, नव लय, ताल, छन्द नव,
नवल कंठ, नव जलद मन्द रव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को,
नव स्वर, नव पर दे।

माँ सरस्वती ने उन्हें वरदान दिया और नये भाव, प्रतीक, शैली,
प्रयोग के साथ 'नयी' की यह धारा उनमें फूट पड़ी। जिसका अनुकरण
औरों ने किया। 'प्रवर्तन' में धर्मवीर भारती को रखा गया और फिर
'प्रचलन' के अन्तर्गत उन्हें स्थान दिया गया है। इसका क्या अर्थ लगाया
जाये कि वे प्रवर्तकों के साथ से लेकर आज तक निरन्तर लिख रहे हैं या
फिर कौन सा कारण है कि उन्हें दोनों जगह स्थान मिला है ? श्री माखन
लाल चतुर्वेदी को, जो 'प्रवर्तन' के अन्तर्गत दिए गये कई नामों से हर
दृष्टि से श्रेष्ठ हैं, प्रचलन के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। क्या यह
भ्रमात्मक नहीं है ? उन्हें 'प्रवर्तन' में ही होना चाहिए था। 'प्रचलन'
के अन्तर्गत ४६ कवियों-गीतकारों को स्थान मिला है। उसमें कई बुर्जुग
बहुत बाद में स्थान पा सके हैं और कई नये ऊपर आ गये हैं। हो सकता
है कि यह वर्णक्रम के कारण हुआ हो फिर भी 'प्रवर्तन' और 'प्रचलन'
का अन्तर तो स्पष्ट ही है।

आज के आलोचकों और सर्जकों में अभी प्रारम्भिक बात में ही भिन्नता हैं। मेरे समक्ष कुछ पत्रिकायें हैं, कुछ फुटकर लेख हैं और कुछ गीत संकलन भी, जो अभी इसी वर्ष प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों में कई विवादों के साथ यह भी देखने को मिलता है कि यदि गीतों को परम्परावादी शृङ्खला में अलग कर लिया जाये तो उन्हें क्या कहा जाय। किसी ने गीत, किसी ने नवगीत, किसी ने छायावादी नवगीत और किसी ने नवप्रभाववादी युग के गीत आदि नामों से सम्बोधित किया है। स्पष्ट ही अभी वर्तमान-गीत-स्वरूप में ही गहन विवाद है।

चूँकि गीतों के स्वरूपों में ही आपसी भेद हैं अतः स्वभावतः दूसरी कई बातों पर भेद होंगे ही। 'कविता १९६४' के संकलन में चार निबन्ध नवगीतों के बारे में दिये गये हैं और 'वातायन' के गीत अंक में भी गीत सम्बन्धी लेख हैं। इन लेखों में दी गई सामग्री से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ लोग जिन्हें नवगीतकार कहते हैं, दूसरे उन्हें स्वीकार नहीं करते। दावा दोनों पक्षों का है कि वे ही सही हैं, फिर मतभेद कहाँ है? क्या गीत-स्वरूप में? यदि यही बात है तो वह हास्यास्पद बात ही होगी। 'कविता १९६४' के चारों लेखकों द्वारा जिन नवगीतकारों के नाम गिनाये गये हैं उनसे कुछ अलग नाम 'वातायन' के गीत अंक में आये हैं। यह नहीं 'कविता १९६४' में जिन नवगीतकारों को पुराना कहा गया है उन्हीं कुछ गीतकारों को 'वातायन' में नवगीतकारों के अन्तर्गत गिनाया गया है। इसका अर्थ है कि गीत कई प्रकार के हैं और उनका सही रूप अभी स्थिर नहीं हो पाया है। नीरज-बच्चन का नाम 'वातायन' में गिनाया गया है, पर 'कविता १९६४' में उनका नाम नहीं आया बल्कि श्री दुष्यन्त कुमार ने अपने पत्र में तो यहाँ तक लिख दिया है कि— 'कितने नवगीतकार हैं जो नये ढङ्ग के गीत लिखते हैं। और अगर नीरज, त्यागी वगैरा के गीतों को नवगीत कहते हो तो इस संकलन का कुछ अर्थ

नहीं होता ।' स्पष्ट ही 'नवगीत' की वर्तमान परिभाषा बहुत संकुचित है। यदि ढंग के १० नवगीतकार भी नहीं हैं तो फिर नवगीत को अलग करने का तमाशा क्यों मचाया जा रहा है ? केवल विशेषांकों और संकलनों के अवसर पर मार-कूटकर प्रयास-साध्य कुछ दर्जन गीत लिख देना और प्रकाशित करवा लेना ही विधा की सुदृढ़ता का परिचायक नहीं है। श्री चन्द्रमौलि उपाध्याय ने जाने अभी से कैसे समझ लिया कि—'नया गीत ही नयी कविता को खायेगा-पचायेगा ।' और यदि गीत चक्र की भाँति घूमकर फिर से उसी गति-लय-छन्द बन्धन को स्वीकार कर स्वरूप परिवर्तन करता है तो वह नया न होकर पुराने गीतों के अन्तर्गत ही रखा जायेगा । नयी कविता, कविता के स्थान पर रहेगी और नवगीत, गीतों के साथ । केवल क्लिष्टता के बोझ से लादकर समझ से परे बना देना ही नये गीतों की विशेषता और सीमा नहीं होगी । गीतों की सहजता-सरसता को नष्ट करना गीत-भावना को ही समाप्त करना होगा । 'वातायन' सम्पादक के अनुसार—'नवीन भावबोध की बात हर जगह कही जाती है—उससे गीत अछूता नहीं रह सकता, पर नवीन भाववोध को दुरूह बिम्बों से वैधानिक कर अत्यधिक बौद्धिकता को माध्यम बना लेना ही गीत नहीं है ।' अतः हमें गीतों की इन प्रमुख विशेषताओं के प्रति सतर्क रहना ही होगा । नयी कविता का जहाँ तक प्रश्न है निश्चित ही वह अपने दौर पर है परन्तु वह गीत का स्वरूप धारण कर लेगी, इसकी निश्चित भविष्यवाणी अभी से नहीं की जा सकती । जो गीतों को लय-ताल आदि से भिन्न रखकर देखना चाहते हैं वे गीतों को गीत न मानकर सामान्य कविता की दृष्टि से ही देखते हैं । आज के गीतों पर विचार करते समय उपर्युक्त सभी बातों का ध्यान रखा जाना आवश्यक है । गीतों में आज अतिवैयक्तिकता का एक दम आरोप भी निराधार होगा । उसने व्यक्ति के अतिरिक्त समष्टि की अभिव्यक्ति में भी रुचि लेना प्रारंभ किया है और वह अभिव्यक्ति में पूर्णतः समर्थ है । उसमें भावपक्ष के अतिरिक्त

बौद्धिक पक्ष भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। क्योंकि कोरी भावुकता क्षणिक आनन्द देगी, पर स्थायी न होगी। भावपक्ष के साथ बुद्धि पक्ष रहने से गीत में स्थायित्व आता है। संभवत: इसीलिए डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल ने लिखा है कि 'जिस गीत का बौद्धिक स्नायुजाल जितना ही व्यवस्थित होगा उतना ही वह गीत टिकाऊ, पुष्ट व प्रभविष्णु होगा। कोरी पिलपिली भावुकता कभी भी गीत के रूप में उपस्थित होकर (धोखा देने का प्रयत्न करने पर भी) वांछित कलात्मक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती।' लेकिन यह मान लेना भी अति का प्रतीक है। भावुकता में आनन्द है, आकर्षण है और सरसता है परन्तु उसमें भावुकता का केवल पागलपन न होकर चेतना की उपस्थिति अनिवार्य है।

'वातायन' के अप्रेल अंक को 'गीत अंक' कहा गया है, 'नवगीत अंक' नहीं। लेकिन जो लेख हैं वे सभी नवगीतों की बात कहते हैं। इसका अर्थ है कि अंक के गीत नवगीत की श्रेणी के हैं। सम्पादीय में भी लिखा है— 'वे गीतकार इसमें अधिक मिलेंगे जो कि बहुचर्चित और प्रौढ़ता प्राप्त नहीं हैं। इनमें नयी अंकुरित पीढ़ी की काव्य साधना, उसकी अप्रोच और अभिव्यक्ति उसकी चेतना और सजगता स्पष्ट रूप से सामने आ जावेगी।' 'वातायन' के गीत अंक में ३२ गीत और ११ गद्यगीत संकलित हैं। उनमें नये पुराने दोनों को स्थान मिला है। अंचल जी, माखनलाल चतुर्वेदी आदि जिनके बारे में अतिनवगीतकार नाक-भौं सिकोड़ते हैं, उन्हें भी स्थान मिला है। निस्संदेह कुछ नये चेहरे हैं जिनकी अभिव्यक्ति समर्थ है। गीतों में लोकपक्ष की भावनाएँ युगबोध-युगभावनायें मुखर हुई हैं। वे केवल अतिवैयक्तिक होकर किसी गीतकार के अन्तर्मन मात्र बनकर नहीं रह गये बल्कि उनमें समाज की आंतरिक एवं बाह्य भावनाएँ भी प्रस्फुटित हुई हैं। लोक जीवन की कितनी ही बातें स्थान पा सकी हैं।

नवगीत सम्बन्धी लेखों में मतैक्य की बात सोचना गलत है, फिर भी

पूर्वाग्रह के आधार पर विचारों की अभिव्यक्ति पर एकदम विश्वास भी नहीं किया जा सकता। हर आलोचक को तटस्थ दृष्टि से विचार करना होगा और सच्चे साहित्यिक को अपने कथ्य और तर्क पर पुष्टि के लिए अड़े न रहकर निष्पक्ष दृष्टिकोण से विचार करना है। साहित्य की दिशायें तेजी से बदल रही हैं, उनके बारे में एकदम कुछ कह देना जल्दबाजी होगी।

●

नवगीत :
ख़त के आइने में

अपने 'नवगीत अंक' के बारे में जितने 'सीरियस' दिख रहे हो वह आपकी अपनी साधना एवं लक्ष्य के प्रति 'सिन्सियरिटी' है अन्यथा आज के साहित्य में न सच्ची 'सीरियसनेस' दिखाई पड़ती है और न ही 'सिन्सियरिटी। हर दो युगों के संधिकाल में उथल-पुथल हुई है, साहित्य भी उससे अछूता नहीं रहा। किन्तु आज की जैसी अराजकता साहित्य में कभी भी नहीं रही। स्वतंत्रता का दुरुपयोग जितना अधिक हमारे यहाँ के बुद्धिवादी कर रहे हैं सम्भवतः अन्य किसी देश में नहीं। यह दुर्भाग्य है। इस भावना से कभी भी स्थाई देन की कल्पना नहीं की जा सकती। छायावाद के बाद का अधिकांश काव्य नारेबाजी से ग्रस्त है। नई कविता के बाद तो वह रोग कैन्सर बन गया है जो 'अ' के अस्वीकार के साथ बढ़ना चाहता है। यही गति गीत से नवगीत एवं अगीत तक हुई।

नवगीत की स्थापना कुछ इस तरह करने की चेष्टा की गई जैसे एकदम नई चीज साहित्य संसार को दी जा रही है, लेकिन उसमें शोर अधिक सार कम है। जयदेव से लेकर अगीतकारों तक की परम्परा गीत-

विकास की परम्परा है। गीत मानव संवेदनाओं के सर्वथा निकट है। गीत संवेदनाओं का काव्य है। संवेदनाओं का परिवर्तन गीतों का परिवर्तन है। यदि युगीन प्रवृत्तियाँ काव्य के लिये प्रभावशील हैं तो स्वीकार करना पड़ेगा कि गीत के अनेक सोपान भी अपने परिवर्तनों से युक्त हैं। छायावादी गीत, राष्ट्रीय भावपरक गीत अपने समय के नवगीत ही तो रहे हैं जब भी नये भाव बोध के गीत सामने आये वे पुरानों से नये बन गये। यदि नवगीत का अधिष्ठाता किसी को स्वीकार करना है और स्पष्ट परिवर्तन एवं क्रान्ति देखना है तो निराला से प्रारम्भ करें। निराला ने छंद, लय, भाव सभी में नवीनता दी। निराला के आगे जाने का दावा कौन करता है? 'नवगति नवलय ताल छंद नव-नवस्वर नव पर' का आह्वान करने वाले निराला ही प्रथम और अभी तक के सर्वसमर्थ कवि हैं जिन्हें नव-गीतकार कहा जा सकता है। केवल नव, लगा देने से निराला ओझल नहीं होंगे। कोई भी नवगीतकार इस तथ्य को अस्वीकार करने का साहस नहीं कर सकता। हाँ, युगीन नकारवादिता की उच्छृङ्खलता में कुछ भी लिखा कहा जा सकता है।

'नवगीत' की विधा अलग बनी नहीं। जो कुछ भी है वह गीत रूप में। कभी कभार एक दो गीतों का प्रकाशन विधा का रूप ग्रहण नहीं कर सकता। हर विधा का अपना विधान और चरित्र होता है उससे उसे मूलतः अलग नहीं किया जा सकता। आज जो नवगीत के नाम पर प्रचारित किये जा रहे हैं वे मूलतः नयी कविताएँ हैं। नई कविता से नवगीतों को अलग नहीं किया जा सकता। नवगीत अधिक से अधिक नई कविता की पूरक विशिष्टता हो सकते हैं। इस तथ्य को नवगीत समर्थक समालोचकों ने स्वीकार किया है। अज्ञेय की तो स्पष्ट मान्यता है कि 'नई कविता और नवगीत इस प्रकार के नामों से तो कृत्रिम विभाजन ही आगे बढ़ेगा।' डा० शम्भुनाथसिंह ने कहा था कि 'हिन्दी में १० नवगीतकार भी नहीं मिलेंगे।' उनका तो यह भी कथन है कि 'वस्तुतः नई कविता और नवगीत

में कोई तात्विक अन्तर नहीं है—नया गीत उसी का एक अंग है। किसी भी युग में नए गीतों की रचना हो सकती है।'

यह बात तो बहुत स्पष्ट है कि हिन्दी में विशुद्ध नवगीतकार संभवतः दो-चार भी न मिलेंगे। असल में पश्चिमी साहित्यकार विश्व में अगुआ बनने के लिए नये-नये रूपों के सामने आये किन्तु अपनी मौलिक दृष्टि एवं कला के साथ। भारतीय साहित्यकारों ने केवल नकल की और नई कविता के तुक पर नवगीत का प्रचलन हुआ। एक अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञ ने बड़ी वेदना से कहा था कि अंग्रेजी के जैसे नवगीत हिन्दी में एक भी नहीं हैं, इसमें अतिशयोक्ति भी हो सकती है किन्तु दर्द की दयनीयता अपनी जगह है।

नई कविता लिखने वाले कभी-कभी मन बहलाने और विशेषांकों में स्थान पाने के लिए नवगीत भी लिखते हैं। आश्चर्य यह कि यदि नवगीत शीर्षक के साथ रचना छप गई तो वह नवगीत हो गई, अन्यथा नई कविता। वस्तुतः तथाकथित नवगीतकार रोमैंटिक भावनाओं के कवि हैं जो कई कारणों से नई कविता के पूर्व संस्कारों से जुड़े हुए हैं। कवि सम्मेलनी फैशन 'आउट आफ डेट' हो गया, छायावादी युग अतीत हो गया, लेकिन संसार अभी भी बदले नहीं। अतः उन्होंने शिल्प तो नई कविता का अपनाने की चेष्टा की परन्तु उसमें नई कविता का सा तेज वे दे नहीं पाये। वहाँ रोमानीपन बना रहा : अतः यह मिश्रण नवगीत बन गया। जिसका आशय है नई कविता टाइप का शिल्प + नयी कविता पूर्व का रोमांटिक भाव + अबोधात्मक कथ्य = नवगीत। ऐसे लोग कभी नई कविता में चोंच मारते हैं कभी नवगीत शीर्षक में छप जाते हैं और कभी कवि सम्मेलनों में गीत गा जाते हैं। सब का मिला-जुला रूप वहाँ है। इसलिए कुछ कवि ऐसे भी नवगीतकारों में घुसना चाहते हैं जो नई कविता के पूर्व की रचनाएँ लिखते थे। कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं जो एक जगह नवगीत बनकर छपी हैं दूसरी जगह नई कविता। तार सप्तक की कई छोटी

कविताएँ नवगीत बनाई जा सकती हैं। असल में खंड-खंड स्थापना के चक्कर में न तो सही मूल्यांकन हो पाता है और न ही स्पष्टीकरण। आपके 'सातवें दशक के उभरते नवगीतकार' संकलन की भूमिका में डा० प्रेमस्वरूप गुप्ता ने ठीक ही लिखा है कि 'संकलन की सभी रचनाएँ नवगीत नहीं कही जा सकतीं। नवगीतकार नई कविता के स्रष्टा हैं।'

नवगीत सहज संवेदनों की रचना है जहाँ उलझाव नहीं होता। मैं कुछ उदाहरण आपके इसी संकलन से ही दूँ तो दो दूर के कोण एक साथ दिखाई देंगे। एक ओर तो प्राचीन गीतों के संस्कारी शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए, कवि सम्मेलनी गीतों की शब्दावली, नागरिया, चादरिया, सांवरिया जैसे शब्द। 'किलकलाते, तिलमिलाते, सूर्यपांखी, फागुनी, अपन का ठिकाना, अस्तियाँ, बैसाखी, दोपहरी, पाँहुने, पनिहारिन, अंगुरीसपन, किरनियाँ, गागरी, कंकरिया, पगलाया, अँखुआ, सपनों की डोली जैसे रोमेंटिक शब्द। एक आध नवगीतों की बानगी इस तरह भी लीजिये—मुक्तक है या नवगीत······

दिन रात के सफर में
हम वक्त की डगर में
कोई प्यारा सा भरम लेकर
चलो जिन्दगी गुजारें
अथवा
नौटंकी की धुन पर—
एक दिन को तरसता रहा उम्र भर
दिन जो निकला अपन का ठिकाना नहीं।

इन दोनों उदाहरणों का कथ्य, शिल्प सभी देखकर कौन कहेगा कि ये नवगीत हैं जो अंग्रेजी नवगीतों की टक्कर लेने के लिए उसी 'पैटर्न' पर लिखे गये हैं। यह दयनीयता पूरी विधाओं में तो है ही, नवगीत में विशेष तौर से है। एक दूसरा कोण भी देखिये जिसमें नई कविता के सारे

आयाम हैं नवगीत नहीं या कम……

जब भी कुछ खनका कौंध गया प्रश्न एक
आयाम है कौन ?
दर्द इस तरह आकर बैठा
जाने के लिए फिर उठा नहीं ।

इतना सही है गीत नवगीत या जिस भी रूप में सामने है वह केवल अन्तरमुखी या आत्मपरक भर नहीं रह गया, नई कविता की तरह उसने भी जीवन के व्यापक परिवेश को समेटने की चेष्टा की है । इस भ्रम को भी भुठलाने का प्रयास किया है कि गीत या नवगीत केवल सीमित भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम है । उसमें आज के जीवन की जटिलताएँ भी सम्मिलित हो सकी हैं । निश्चित ही यह शुभ लक्षण है बशर्ते कि वह नवगीत रूपों में ही व्यक्त हुई हो । शिल्प की नवीनता में दो मत नहीं हो सकते किन्तु वह नवीनता नई कविता की देन है स्वतंत्र नहीं—

डूबने को हो रहा है मन
पर कहीं पानी नहीं मिलता
चुक गया है आज सागर भी
बुझाने में तपन को
देखता हूँ कौंधता आकाश
औ' बढ़े नाखून में ले मैल
नोचता हूँ झुर्रियों की सांस
शब्द के कंगन खनकते हैं

अथवा—

मेरे युग के कई मसीहा
किसी क्रांति को रिश्वत देकर बड़े हुए हैं
और साधना

छोटी-मोटी लेकर हम
भाषण सहते
किसी कसाई की दूकान पर
हाथ जोड़कर खड़े हुए हैं

कई बार अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त कल्पनाएँ बहुत ही सुन्दर बन पड़ती है, भले ही वे मात्रा में कम हों—'किन्तु रबर की देह कदाचित उसे यही हैरानी' अथवा 'खुल गई हैं जड़ें हिलते दांत की और मंजन कर रहा व्यर्थ की बकवास।' स्पष्ट है कि गीतों में अब जीवन का हर क्षेत्र व्यक्त हो सकता है इतना सामर्थ्य तो लाया जा चुका है किन्तु विसंगति यह है कि उसमें नई कविता की नकल अधिक है स्वतंत्र उपलब्धियों की मात्रा कम। 'कांटों का ताज पहन जिन्दगी बन्दिनी है भीतर तहखाने में, जैसे गीत लिखना और सीधे सादे शब्दों में बिना उलझाव के बात करना आज के युग में कमजोरी मान ली गई है। प्रेषणीयता एवं स्वाद ग्रहण की बात प्राचीनता के नाम पर निरर्थक सिद्ध की जाने लगी है। किन्तु इसका अपना महत्व है। गीतों से न तो लय-प्रवाह निकाला जा सकता है न ही प्रेषणीयता। बौद्धिकता के नाम पर नवगीतों को उलझाने के लिए की जा रही चेष्टायें अच्छी नहीं है। नई कविता तो इस रोग से ग्रस्त थी ही—गीतों में जो साफगोई की बात कही जा सकती थी वह भी न रहेगी। रसास्वादन गीतों का गुण है वह नवगीतों में भी है। वही उसकी सार्थकता है आप 'वाह' 'वाह' न कहलाये किन्तु भावास्वादन तो करें। संभवत: इसी उलझाव की ओर संकेत करके डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने लिखा था कि 'किसी युग में कवि बेचारा रहा होगा, आज पाठक बेचारा है।' प्रत्यक्ष सम्बन्धों में उलझाव बाधक होगा ही।

शिल्प एवं शब्दभावों की नवीनता एवं परिवेश की व्यापकता के साथ यदि गीत नवगीत के रूप में स्थान पाता है और ईमानदारी से इस विधा के पोषक प्रतिभा सम्पन्न कलाकार इसे कुछ दे पाते हैं तो निश्चित

ही वह प्रशंसनीय एवं स्वीकारणीय है किन्तु केवल नई कविता की धुन-तुक पर नवगीतों का प्रचलन होता है तो व्यर्थ उलझाव करने की क्या आवश्यकता, नई कविता स्वयं उतना नवगीतपन तो लिए ही है। यदि हम उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान देकर नवगीतों पर दृष्टिपात करें तो निश्चित ही उनकी सही स्थिति स्पष्ट होगी। हमें इस दिशा में गंभीरता से विचार करना होगा।

●

भविष्य की कविता

भविष्य के बारे में अनुमान के सहारे कुछ भी कहना आशंकाओं एवं अनिश्चयों से परे नहीं रह सकता। विशेषकर आज के इस वैज्ञानिक युग में कोई भी भविष्यवाणी करना सरल कार्य नहीं है। विज्ञान हमारे अनेक अनुमानों एवं कल्पनाओं को जहाँ साकार कर रहा है, वहीं हमारी अनेक मान्यताओं, कल्पनाओं एवं अनुमानों को निरर्थक सिद्ध कर हमें हतप्रभ भी बना रहा है।

साहित्य का भविष्य और साहित्यिक भविष्य-वाणियाँ न तो विज्ञान की भविष्यवाणियाँ हैं और न ही ज्योतिष शास्त्र के गणित के निष्कर्ष। साहित्य के भविष्य-रूप सम्बन्धी अनुमान के अनेक आधार हैं जिनसे हम आनेवाली प्रवृत्तियों का अनुमान लगा सकते हैं, जिनसे अधिकांश सही होने की सम्भावनाएँ भी हैं। समाज, राजनीतिक, आर्थिक-स्थिति, विज्ञान-प्रगति, सभ्यता की दिशायें, संस्कृति के परिवर्तन, धर्म के रूप ऐसी बातें हैं जहाँ साहित्य अपना रूप ग्रहण करता है। आज का मानव समुदाय जिस वैज्ञानिक वातावरण में जी रहा है, आनेवाली पीढ़ियाँ जिस दिशा की ओर उन्मुख हैं, समाज की मान्यताएँ जिन बदलते स्वरूपों-

परिवेशों को ग्रहण करने के लिए अग्रसर हैं—वे साहित्य को प्रभावित किए बिना रह ही नहीं सकतीं। अतः इन्हीं तथ्यों के आधार पर यदि हम भविष्य की कविता का अनुमान कर कुछ पूर्व निष्कर्ष निकालें तो उसमें असंगति ही क्या है ?

आज जीवन जिस तीव्रगति से आगे बढ़ रहा है, प्रतियोगिता की प्रवृत्तिाँ जिस संक्षिप्तीकरण (शार्टकट) को अपनाती जा रही हैं—थोड़े में बहुत कह-कर देने की प्रवृत्ति, सामयिक अल्पता को अधिक से अधिक उपयोग करने की आकांक्षा जिस प्रकार उभरती जा रही है, वह इस बात का संकेत है कि आगे की कविता न केवल संक्षिप्त होगी बल्कि चित्रात्मक संकेतों के द्वारा उसमें अधिकाधिक कह देने की प्रवृत्ति निश्चित ही स्थान ग्रहण करेगी। लक्षण-व्यंजना को लांघकर कवि अभिधा में अपनी बात बहुत स्पष्ट एवं यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की साहसिकता से काम लेगा।

साहित्य में जिस तेजी से राजनीति हावी होती जा रही है, हमारे साधक साहित्यकार जीवन की यातनाओं से भयभीत होकर जीवन-सुख भोगने के लिए जिस प्रकार से राजनीतिज्ञों एवं पदों के भक्त बनने के लिए लालायित हैं, उससे यह आभास होता है कि आनेवाले वर्षों में काव्य में राजनीति की प्रधानता हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। राजनीति-काव्यों की रचना व्यक्ति या समुदाय को संतुष्ट करने का साधन भी बन सकती है—उसका कारण यही है कवि धीरे-धीरे अपने उत्तरदायित्वों से मुकर कर अपने स्वार्थी वृत्त में घिरता जा रहा है। हम प्रगतिवाद पर राजनीतिक झंडा बरदारी का आरोप लगा कर उसकी आलोचना तो करते हैं, दरबारी युग के व्यक्ति प्रसन्नता के लिए रचित काव्यों को अनुपयुक्त बताते हैं, लेकिन आज हम या तो अपनी हीन मनोवृत्तियों को प्रस्तुत करते हैं, या आवश्यकता से अधिक उग्रवादी होकर आक्रोश और आक्रामकता के शिकार बन जाते हैं, परिणामतः सामाजिक

उत्तरदायित्व का निर्वाह किसी भी ओर से नहीं हो पाता।

एक ओर यह बढ़ती हुई असामाजिकता दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्य के नकल की बढ़ती प्रवृत्ति। साथ ही नवीन उद्भावनाओं के नाम पर शाब्दिक अभिव्यक्ति की उच्छृंखलता यदि भविष्य की कविता एवं कवि को समाज से काट कर अलग कर दें, तो इसे केवल कल्पना कह कर टाला नहीं जा सकता। तब निश्चित ही ग्राम-काकली, ग्राम्य-गीतों और ग्राम शब्दावलियों में कविता अपना नया रूप ग्रहण करे तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। यह तो निश्चित है कि कुछ वर्षों में वर्तमान कविता केवल कुछ पढ़े-लिखे तथाकथित बौद्धिक लोगों के पढ़ने की सामग्री बनकर केवल पुस्तकों में बंद हो जायेगी। उसका यह सामाजिक कटाव उसे परे कर देगा। लेकिन काव्य समाज से कभी समाप्त नहीं हुआ। अत: उस स्थान की पूर्ति पूर्वअनुमानित कविता-रूपों से संभव है।

सूर्य, चंद, तारे, गुलाब, कमल आदि प्राचीन प्रतिमान समाप्त हो रहे हैं, पौधों का स्थान कैक्टस और फूलों का स्थान काँटे लेते जा रहे हैं। सामाजिक व्यवस्था, कठिनाइयों एवं पीड़ाओं को अभिव्यक्ति देने के लिए ये नये प्रतिमान समर्थ माने जाते हैं। क्योंकि न तो गुलाबों का दरबारी जीवन रहा, न कमलों का शृङ्गारिक युग। प्रकृति का, समाज का बासंतिक वातावरण भी नहीं है। अत: व्यक्ति पीड़ाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता उनमें नहीं है। शायद इसीलिए काँटेदार प्रतिमानों के साथ ही, कर्कश एवं ऊबड़-खाबड़ शब्दावली के प्रयोग का आधिक्य है। यह तो निश्चित है कि जिस प्रकार से हमारा देश (विश्व भी) नये-नये प्रकार की समस्याओं एवं विभीषिकाओं में फँसता चला जा रहा है—उससे शीघ्र उभरने और सामाजिक समस्याओं को हल कर सुव्यवस्थित जीवन जीने की शीघ्र सम्भावनाएँ बहुत कम हैं। बल्कि असंतोष, अव्यवस्था, पीड़ा, व्यक्ति-भेद, अविश्वास और स्वार्थ और भी बढ़ें तो कोई आश्चर्य की बात न होगी। ऐसी दशा में आगे की कविताओं में इन

प्रवृत्तियों के प्रमुख स्थान पाने की सम्भावनाएँ भी बढ़ जाती हैं। इन्हीं अव्यवस्थाओं के बीच साहित्य को नया स्वर एवं दिशा देने के लिए नये कबीर, तुलसी, निराला के पैदा होने की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता। यह तो लगभग तय लगता है कि कविता भविष्य में उन्मुक्त से उन्मुक्ततर होती जायेगी, वह किसी प्रकार के बाह्य-बन्धनों को स्वीकार नहीं करेगी। हो सकता है कि कल्पना का रूप भी बहुत ही सीमित हो जाय। क्योंकि असंतोष अभिव्यक्ति के लिए यथार्थ के नाम पर यदि व्यक्ति स्वातंत्र्य का निरावृत कविता लिखने के लिए प्रयोग किया गया, यदि निराशाओं ने भावी जीवन के प्रति व्यक्ति को उदासीन बना दिया, यदि सुख-साधन की संभावनाएँ पीड़ा-व्यवस्था और असंतोष में समाहित हो गई, तो कल्पना को पनपने का अवसर ही कहाँ मिलेगा। हाँ, यदि विज्ञान ने अपनी उपलब्धियों को व्यक्ति विनाश में न लगाकर संभावनाओं के नये द्वार खोलने में लगाया तब निश्चित ही आशा की नई किरण हमें कल्पनाओं के लिए प्रेरित कर सकती है। कल्पना, शृङ्गार, बाह्य अलंकारिक परिधान और व्यास-प्रवृत्ति सुखद दिनों की सम्भावनायें हैं। चूँकि सुख-सम्भावनाओं की क्षीणता स्पष्ट है—इसलिए सामाजिक संक्षिप्तता के बीच कल्पना से परे यथार्थ अभिव्यक्ति के नाम पर कर्कश और कठोर शब्दावली में आंतरिक असंतोष और सामाजिक-व्यवस्था के प्रति घृणा और उदासीनता के स्वर मुखर होंगे।

ऐसा लगता है कि जैसी परिस्थितियाँ सम्भावित हैं उनमें महाकाव्य रचना की सम्भावनायें बहुत क्षीण हैं। महाकाव्य या तो व्यक्ति के निश्चिंत जीवन की रचना है, या सुव्यवस्थित समाज की प्रेरणा। अभी न तो व्यक्ति की निश्चिन्तता है, न समाज की वैसी सुव्यवस्था। फिर महाकाव्य इतिहास या धर्म के प्रधानों पर ही आधारित रहे हैं—चाहे वह राम-काव्य धारा के व्यक्तित्व हों या कृष्ण काव्य धारा के। चूँकि इन व्यक्तियों के प्रति हमारा आकर्षण एवं आस्था निरन्तर कम होती जा रही है—

इन जीवनों में हमें आज का जीवन नहीं मिलता, अतः आसक्ति का कम होना अस्वाभाविक भी नहीं है। अब तो व्यक्ति एवं समाज प्रमुख हैं। अतः आज के जिस व्यक्ति की बात हम करते हैं वह महाकाव्य का व्यक्तित्व नहीं बन सकता।

यदि अनेक वर्षों तक आज के व्यक्ति-जीवन को स्वर देने वाला महाकाव्य न लिखा जाय तो कोई अनहोनी बात नहीं होगी। निकट भविष्य में फुटकर रचनाओं की ही प्रधानता होगी। जब कोई युग-कवि जन्म लेगा तो वह उपन्यासकार प्रेमचन्द न होकर कवि प्रेमचन्द होगा जो होरी को महाकाव्य का नायक बनाकर संघर्ष से जूझने-टूटने के लिए खड़ा करेगा। और उस समय कवि की लेखनी से यदि महाकाव्य बन सका तो वह होरी जैसे व्यक्ति के जीवन का प्रतिनिधि महाकाव्य बनेगा, प्राचीन पौराणिकता का स्वर लेकर नहीं। अनेक मुश्किलों, संघर्षों, असंतोष और व्याधियों के बाद भी चूँकि होरी अभी हमारे व्यक्तित्व के साथ मिल नहीं पाया, वह महाकाव्य का स्वर निकट भविष्य में न पा सके तो आश्चर्य की बात न होगी।

साहित्य की जिस उच्चता की बात अभी हम 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' जैसे उद्घोषों के बीच ढूँढते हैं वह उच्चता आगे सुरक्षित नहीं रहेगी। साहित्य की स्थिति जो आज है, उससे उसके और सतह में आने की स्थितियाँ अधिक जीवन्त दिखाई पड़ती हैं। काव्य की कोटियाँ वर्तमान संज्ञाओं के बीच बँधी तो न रहेंगी। अकविता, नवगीत जैसे घरोंदे हमारे भावी स्वरों को बाँध नहीं सकेंगे। गीत की सम्भावनायें कम ही हैं। गीत मुख्यतः श्रृङ्गारिक-वेदना, करुणा भाव का स्वर है—उसके तन्तुओं की कोमलता यदि युग की कर्कश विभीषिकाओं को स्वर देने में असमर्थ सिद्ध हो तो कोई गलत बात न होगी—तब केवल कविता होगी, वह भी कवित्त-सवैया की कविता नही, छंदों-अलंकारों की कविता नहीं, रस के जबरन उभारने की कविता नहीं—वह व्यक्ति-जीवन की कविता होगी

जो जीवन की तरह ही फुटकर, असंबद्ध और रसहीन होगी। यदि काव्य व्यक्तित्व अपनी समर्थता में अपने व्यक्तित्व और अनुभूति को सामाजिक रूप दे सका तब तो निश्चित ही वह काव्य-रचना स्थायी जीवन पा सकेगी, अन्यथा भविष्य में क्षणजीवी कविताओं के आधिक्य की संभावनाओं को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जिनमें न तो पारम्परिकता होगी, न मूल्यों एवं दायित्वों की बात। सीधी-सादी पंक्तियों में कविता असहज व्यक्ति की सहज कृति बनकर रह जायेगी। अकवि जिसे आज खेल समझते हैं—यह खेल भी ज्यादा दिन जीवित रहने वाला नहीं है।

यह निश्चित है कि अव्यवस्थाओं के बीच से कोई न कोई व्यवस्था जन्म लेगी—उस व्यवस्था-स्थापना में कवि भी भागीदार होगा। यह कविता का रूप किसी बड़े कवि की देन होगी जो सामाजिक जीवन की आंतरिकता से जुड़कर बाह्य कृत्रिमता में नहीं, बल्कि सामान्य व्यक्ति की भावना से जुड़कर उसी की शब्दावली में नये जीवन-स्वर को मुखरित करेगा। जो अत्यन्त सहज, अकृत्रिम और बंधन मुक्त रचना होगी। वही भविष्य की कविता का रूप होगा, जिसका मूल्यांकन अपेक्षित एवं महत्वपूर्ण माना जा सकेगा। आगे पैदा होने वाला महान कवि कबीर होगा तुलसी नहीं—जायसी और केशव भी नहीं। तुलसीदास कबीर के बाद ही पैदा होगा। सूर की संभावना तो है ही नहीं। कबीर भी आज का कबीर होगा जो गुरु और गोविन्द से अलग हटकर अपनी बात कहेगा। जो संसार को असार और नश्वर बतलाकर जीवन-समाज के प्रति आसक्ति का स्वर बुलन्द करेगा। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सद्भाव के साथ ही आत्मास्था की सलाह देगा। मानव-कल्याण की बात उसने उस समय कही थी—अब मानवता-कल्याण की बात नए स्वर-शब्दावली में कहेगा—यह कबीर किन्हीं वृत्ताग्रही परिभाषाओं में न बाँधा जा सकेगा।

●